भक्ति काव्य और लोकजीवन

(Devotional Poetry and Folk Life)

जमील खान

भक्ति काव्य और लोक जीवन

भक्ति काव्य और लोक जीवन
(Devotional Poetry and Folk Life)

जमील खान

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5626-4

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

भक्ति आंदोलन का आरंभ दक्षिण के आलवार संतों द्वारा दसवीं सदी के लगभग हुआ। वहाँ शंकराचार्य के अद्वैतमत और मायावाद के विरोध में चार वैष्णव संप्रदाय खड़े हुए। इन चारों संप्रदायों ने उत्तर भारत में विष्णु के अवतारों का प्रचार-प्रसार किया। इनमें से एक के प्रवर्तक रामानुजाचार्य थे, जिनकी शिष्य परंपरा में आने वाले रामानंद ने (पंद्रहवीं सदी) उत्तर भारत में रामभक्ति का प्रचार किया। रामानंद के राम ब्रह्म के स्थानापन्न थे, जो राक्षसों का विनाश और अपनी लीला का विस्तार करने के लिए संसार में अवतीर्ण होते हैं। भक्ति के क्षेत्र में रामानंद ने ऊँच नीच का भेदभाव मिटाने पर विशेष बल दिया। राम के सगुण और निर्गुण दो रूपों को मानने वाले दो भक्तों - कबीर और तुलसी को इन्होंने प्रभावित किया। विष्णुस्वामी के शुद्धाद्वैत मत का आधार लेकर इसी समय बल्लभाचार्य ने अपना पुष्टिमार्ग चलाया। बारहवीं से सोलहवीं सदी तक पूरे देश में पुराण सम्मत कृष्णचरित् के आधार पर कई संप्रदाय प्रतिष्ठित हुए, जिनमें सबसे ज्यादा प्रभावशाली वल्लभ का पुष्टिमार्ग था। उन्होंने शांकर मत के विरुद्ध ब्रह्म के सगुण रूप को ही वास्तविक कहा। उनके मत से यह संसार मिथ्या या माया का प्रसार नहीं है, बल्कि ब्रह्म का ही प्रसार है, अतः सत्य है। उन्होंने कृष्ण को ब्रह्म का अवतार माना और उसकी प्राप्ति के लिए भक्त का पूर्ण आत्म-समर्पण आवश्यक बतलाया। भगवान के अनुग्रह या पुष्टि के द्वारा ही भक्ति सुलभ हो सकती है। इस संप्रदाय में उपासना के लिए गोपीजनवल्लभ, लीला पुरुषोत्तम कृष्ण का मधुर रूप स्वीकृत हुआ। इस प्रकार उत्तर भारत में

विष्णु के राम और कृष्ण अवतारों की प्रतिष्ठा हुई।

यद्यपि भक्ति का स्रोत दक्षिण से आया तथापि उत्तर भारत की नई परिस्थितियों में उसने एक नया रूप भी ग्रहण किया। मुसलमानों के इस देश में बस जाने पर एक ऐसे भक्तिमार्ग की आवश्यकता थी, जो हिंदू और मुसलमान दोनों को ग्राह्य हो। इसके अतिरिक्त निम्न वर्ग के लिए भी अधिक मान्य मत वही हो सकता था, जो उन्हीं के वर्ग के पुरुष द्वारा प्रवर्तित हो। महाराष्ट्र के संत नामदेव ने 14वीं शताब्दी में इसी प्रकार के भक्ति मत का सामान्य जनता में प्रचार किया, जिसमें भगवान के सगुण और निर्गुण दोनों रूप गृहीत थे। कबीर के संत मत के ये पूर्वपुरुष हैं। दूसरी ओर सूफी कवियों ने हिंदुओं की लोक-कथाओं का आधार लेकर ईश्वर के प्रेममय रूप का प्रचार किया।

इस प्रकार इन विभिन्न मतों का आधार लेकर हिंदी में निर्गुण और सगुण के नाम से भक्तिकाव्य की दो शाखाएँ साथ-साथ चलीं। निर्गुण मत के दो उप-विभाग हुए - ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी। पहले के प्रतिनिधि कबीर और दूसरे के जायसी हैं। सगुण-मत भी दो उप धाराओं में प्रवाहित हुआ - रामभक्ति और कृष्णभक्ति। पहले के प्रतिनिधि तुलसी हैं और दूसरे के सूरदास।

भक्तिकाव्य की इन विभिन्न प्रणलियों की अपनी अलग-अलग विशेषताएँ हैं पर कुछ आधारभूत बातों का सन्निवेश सब में है। प्रेम की सामान्य भूमिका सभी ने स्वीकार की। भक्तिभाव के स्तर पर मनुष्यमात्र की समानता सबको मान्य है। प्रेम और करुणा से युक्त अवतार की कल्पना तो सगुण भक्तों का आधार ही है पर निर्गुणोपासक कबीर भी अपने राम को प्रिय, पिता और स्वामी आदि के रूप में स्मरण करते हैं। ज्ञान की तुलना में सभी भक्तों ने भक्तिभाव को गौरव दिया है। सभी भक्त कवियों ने लोकभाषा का माध्यम स्वीकार किया है।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**विषय बोध**	**1**
	हिन्दी भक्ति काव्य के सामाजिक सरोकार	20
	संत रविदास की वाणी	21
	गुरु-शिष्य का सम्बन्ध	22
	आध्यात्मिकता और धर्म	23
2.	**भक्तिकाव्य धारा**	**26**
	भक्तिकाल की प्रवृत्तियाँ	26
	कृष्णाश्रयी शाखा	28
	कृष्ण भक्ति काव्यधारा की प्रमुख विशेषतायें	29
	रामाश्रयी शाखा	35
	ज्ञानाश्रयी शाखा	38
	प्रेमाश्रयी शाखा	43
	प्रेम-मार्गी काव्य की प्रवृत्तियाँ	44
3.	**मीराबाई की रचनाओं में लोकजीवन**	**48**
	मीराबाई का घर से निकाला जाना	49
	मीरा के आराध्य	51
	मीरा के काव्य में विरह वेदना का स्वरूप	57

मीरा के काव्य में प्रेमानुभूति की अभिव्यक्ति का स्वरूप 63
मीरा का काव्य सौंदर्य 69
4. कबीर की रचनाओं में लोक जीवन 75
जीवन परिचय 75
जन्म 75
जन्मस्थान 76
माता-पिता 77
बचपन 77
जुलाहा 78
शिक्षा 79
मृत्यु 82
कबीर की साधना 84
कबीर की सामाजिक चेतना 90
कबीर का काव्य सौंदर्य 95
जनता की एकता की स्वीकृति 103
ईश्वर के समक्ष सबकी समानता 104
जाति-प्रथा का विरोध 104
धर्मनिरपेक्षता/पंथनिपेक्षता 105
सामाजिक उत्पीड़न और अंधविश्वासों का विरोध 106
कबीर की भक्ति भावना 107
कबीर के युग की राजनैतिक परिस्थितियाँ 111
कबीर का मूल्यांकन 112
5. तुलसीदास की रचनाओं में लोकजीवन 114
जन्म 114
तुलसीदास 115
शिष्य परम्परा 115
गोस्वामी तुलसीदास 116
आदर्श सन्त कवि 116
प्रखर बुद्धि के स्वामी 116
श्रीराम से भेंट 118
संस्कृत में पद्य-रचना 118

रामचरितमानस की रचना 119
मृत्यु 121
तुलसी-स्तवन 121
तुलसीदास की रचनाएँ 125
कुछ ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण 126
वैराग्य संदीपनी 126
तुलसीदास के जीवन की ऐतिहासिक घटनाएं 151
अकबर के दरबार में बंदी बनाया जाना 153
तुलसी का काव्य और युग संदर्भ 155
6. सूरदास की रचनाओं में लोक जीवन 157
जीवन परिचय 157
सूरदास बनना? 158
श्री वल्लभाचार्य से मुलाकात 167
षोड्श ग्रन्थों की टीकाएँ तथा हिंदी अनुवाद 171
शुद्धाद्वैतवाद का तुलनात्मक विश्लेषण 177
शंकराचार्य और वल्लभाचार्य 178
पुष्टिमार्ग सेवा 181
7. दादू दयाल की रचनाओं में लोक जीवन 189
परिचय 189
8. रैदास की रचनाओं में लोक जीवन 192
संत रविदास जयंती 193
रविदास की प्रारंभिक शिक्षा 194
वैवाहिक जीवन 195
संत रविदास का सकारात्मक नजरिया 201
कुंभ उत्सव पर एक कार्यक्रम 202
संत रविदास की मृत्यु 203
विजयदास 209

1

विषय बोध

भक्तिकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, एवं राजनीतिक परिस्थिति का परिणाम मध्ययुगीन भक्तिकालीन संत साहित्य पर हुआ है। सृष्य-असृष्य भेद, वर्ग वैषम्य, आदि का विवरण संत साहित्य में हुआ है। भक्तिकाल में उच्च कोटी की काव्य रचनाएँ हुई है। इस काल का साहित्य अपने गुणों से परम शिखर पर पहँच गया था। अज्ञान और भेदाभेद को दूर कर ज्ञान रूपी प्रकाश की किरण लाने का कार्य इस काल में भक्ति साहित्य ने किया है। मध्ययुगीन काल के संतों ने लोकभाषा में काव्य रचनाएँ लिखी। इसी कारण जनमानस तक यह साहित्य पहुँचा। लोकमंगल की भावना से ही यह साहित्य रूपी कलश भरा गया था। इस काल में भक्ति वैयक्तिक न रहकर मुक्ति का साधन बन गयी थी।

आदिकाल या रीतिकाल की अपेक्षा मध्ययुगीन साहित्य को अधिक महत्त्व दिया गया है। इसका कारण है कि आदिकालीन साहित्य के विषय में विवादास्पदता एवं अस्पष्टता है और रीतिकाल में लोकमंगल की भावना की और अधिक ध्यान नहीं दिया गया था। इसलिए मध्ययुगीन संत साहित्य को अधिकतर महत्त्व दिया जाता है। फिर भी सिद्ध एवं नाथ साहित्य का संत साहित्य में योगदान रहा है। संत साहित्य में कबीर जी का नाम अग्रणी है। साथ ही दादूदयाल, सुंदरदास, नामदेव, ज्ञानेश्वर, मीराबाई, तुलसीदास, रहीम, रसखान, कुछ महत्त्वपूर्ण नाम है। इस काल में संतों ने धर्म, दर्शन, जीव, जगत, ब्रह्म आदि संबंधी अपने विचार प्रस्तुत किए है। संतों ने भी विभिन्न विषम परिस्थितियों का

सामना कर अपना कार्य किया है। धर्म, जाति, आदि के नाम पर समाज में हो रहे आडंबरों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। भक्ति और धर्म का व्यापक अर्थ उस समय लिया जाता था। ईश्वर को जाति, धर्म से अलग रखने का कार्य संत साहित्य ने किया है। भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक और साहित्यिक इतिहास के मध्यकाल की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता को भक्ति आन्दोलन के रूप में पहचाना जा सकता है। साहित्य के क्षेत्र में यह भक्ति काव्य के विराट रस श्रोत के रूप में प्रकट हुआ। भक्ति काव्य का स्वरूप अखिल भारतीय था। दक्षिण भारत में दार्शनिक सिद्धांतों के ठोस आधार से समृद्ध होकर भक्ति उत्तर भारत में एक आंदोलन के रूप में फैल गयी। इसका प्रभाव कला, लोक व्यवहार आदि जीवन के समस्त क्षेत्रों पर पड़ा। कबीर, जायसी, मीरा, सूर, तुलसी आदि कवियों के साथ रामानंद, चैतन्य महाप्रभु, वल्लभाचार्य आदि आचार्यों के सिद्धांतों में भक्ति के इसी स्वरूप के दर्शन होते हैं।

तेरहवीं सदी तक धर्म के क्षेत्र में बड़ी अस्त-व्यस्तता आ गई। जनता में सिद्धों और योगियों आदि द्वारा प्रचलित अंधविश्वास फैल रहे थे, शास्त्र ज्ञान संपन्न वर्ग में भी रूढ़ियों और आडंबर की प्रधानता हो चली थी। मायावाद के प्रभाव से लोक विमुखता और निष्क्रियता के भाव समाज में पनपने लगे थे। ऐसे समय में भक्ति आंदोलन के रूप में ऐसा भारत व्यापी विशाल सांस्कृतिक आंदोलन उठा जिसने समाज में उत्कर्ष विधायक, सामाजिक और वैयक्तिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की।

भक्ति आंदोलन का आरंभ दक्षिण के आलवार संतों द्वारा दसवीं सदी के लगभग हुआ। वहाँ शंकराचार्य के अद्वैतमत और मायावाद के विरोध में चार वैष्णव संप्रदाय खड़े हुए। इन चारों संप्रदायों ने उत्तर भारत में विष्णु के अवतारों का प्रचार-प्रसार किया। इनमें से एक के प्रवर्तक रामानुजाचार्य थे, जिनकी शिष्य परंपरा में आने वाले रामानंद ने (पंद्रहवीं सदी) उत्तर भारत में रामभक्ति का प्रचार किया। रामानंद के राम ब्रह्म के स्थानापन्न थे, जो राक्षसों का विनाश और अपनी लीला का विस्तार करने के लिए संसार में अवतीर्ण होते हैं। भक्ति के क्षेत्र में रामानंद ने ऊँच नीच का भेदभाव मिटाने पर विशेष बल दिया। राम के सगुण और निर्गुण दो रूपों को मानने वाले दो भक्तों - कबीर और तुलसी को इन्होंने प्रभावित किया। विष्णुस्वामी के शुद्धाद्वैत मत का आधार लेकर इसी समय बल्लभाचार्य ने अपना पुष्टिमार्ग चलाया। बारहवीं से सोलहवीं सदी तक पूरे देश में पुराण सम्मत कृष्णचरित् के आधार पर कई संप्रदाय प्रतिष्ठित हुए, जिनमें

सबसे ज्यादा प्रभावशाली वल्लभ का पुष्टिमार्ग था। उन्होंने शांकर मत के विरुद्ध ब्रह्म के सगुण रूप को ही वास्तविक कहा। उनके मत से यह संसार मिथ्या या माया का प्रसार नहीं है बल्कि ब्रह्म का ही प्रसार है, अतः सत्य है। उन्होंने कृष्ण को ब्रह्म का अवतार माना और उसकी प्राप्ति के लिए भक्त का पूर्ण आत्म-समर्पण आवश्यक बतलाया। भगवान के अनुग्रह या पुष्टि के द्वारा ही भक्ति सुलभ हो सकती है। इस संप्रदाय में उपासना के लिए गोपीज नवल्लभ, लीला पुरुषोत्तम कृष्ण का मधुर रूप स्वीकृत हुआ। इस प्रकार उत्तर भारत में विष्णु के राम और कृष्ण अवतारों की प्रतिष्ठा हुई।

यद्यपि भक्ति का स्रोत दक्षिण से आया तथापि उत्तर भारत की नई परिस्थितियों में उसने एक नया रूप भी ग्रहण किया। मुसलमानों के इस देश में बस जाने पर एक ऐसे भक्तिमार्ग की आवश्यकता थी, जो हिंदू और मुसलमान दोनों को ग्राह्य हो। इसके अतिरिक्त निम्न वर्ग के लिए भी अधिक मान्य मत वही हो सकता था, जो उन्हीं के वर्ग के पुरुष द्वारा प्रवर्तित हो। महाराष्ट्र के संत नामदेव ने 14वीं शताब्दी में इसी प्रकार के भक्ति मत का सामान्य जनता में प्रचार किया जिसमें भगवान के सगुण और निर्गुण दोनों रूप गृहीत थे। कबीर के संत मत के ये पूर्वपुरुष हैं। दूसरी ओर सूफी कवियों ने हिंदुओं की लोक-कथाओं का आधार लेकर ईश्वर के प्रेममय रूप का प्रचार किया।

इस प्रकार इन विभिन्न मतों का आधार लेकर हिंदी में निर्गुण और सगुण के नाम से भक्तिकाव्य की दो शाखाएँ साथ-साथ चलीं। निर्गुण मत के दो उप-विभाग हुए - ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी। पहले के प्रतिनिधि कबीर और दूसरे के जायसी हैं। सगुण-मत भी दो उप धाराओं में प्रवाहित हुआ - रामभक्ति और कृष्णभक्ति। पहले के प्रतिनिधि तुलसी हैं और दूसरे के सूरदास।

भक्तिकाव्य की इन विभिन्न प्रणलियों की अपनी अलग-अलग विशेषताएँ हैं पर कुछ आधारभूत बातों का सन्निवेश सब में है। प्रेम की सामान्य भूमिका सभी ने स्वीकार की। भक्तिभाव के स्तर पर मनुष्यमात्र की समानता सबको मान्य है। प्रेम और करुणा से युक्त अवतार की कल्पना तो सगुण भक्तों का आधार ही है पर निर्गुणोपासक कबीर भी अपने राम को प्रिय, पिता और स्वामी आदि के रूप में स्मरण करते हैं। ज्ञान की तुलना में सभी भक्तों ने भक्तिभाव को गौरव दिया है। सभी भक्त कवियों ने लोकभाषा का माध्यम स्वीकार किया है।

ज्ञानश्रयी शाखा के प्रमुख कवि कबीर पर तात्कालिक विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों और दार्शनिक मतों का सम्मिलित प्रभाव है। उनकी रचनाओं में धर्म

सुधारक और समाज सुधारक का रूप विशेष प्रखर है। उन्होंने आचरण की शुद्धता पर बल दिया। बाह्याडंबर, रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर उन्होंने तीव्र घात किया। मनुष्य की क्षमता का उद्घोष कर उन्होंने निम्न श्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव जगाया। इस शाखा के अन्य कवि रैदास, दादू हैं।

अपनी व्यक्तिगत धार्मिक अनुभूति और सामाजिक आलोचना द्वारा कबीर आदि संतों ने जनता को विचार के स्तर पर प्रभावित किया था। सूफी संतों ने अपने प्रेमाख्यानों द्वारा लोकमानस को भावना के स्तर पर प्रभावित करने का प्रयत्न किया। ज्ञानमार्गी संत कवियों की वाणी मुक्तकबद्ध है, प्रेममार्गी कवियों की प्रेमभावना लोक-प्रचलित आख्यानों का आधार लेकर प्रबंध काव्य के रूप में ख्यायित हुई है। सूफी ईश्वर को अनंत प्रेम और सौंदर्य का भंडार मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर को जीव प्रेम के मार्ग से ही उपलब्ध कर सकता है। साधाना के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को वह गुरु या पीर की सहायता से साहसपूर्वक पार करके अपने परमप्रिय का साक्षात्कार करता है। सूफियों ने चाहे अपने मत के प्रचार के लिए अपने कथाकाव्य की रचना की हो पर साहित्यिक दृष्टि से उनका मूल्य इसलिए है कि उसमें प्रेम और उससे प्रेरित अन्य संवेगों की व्यंजना सहजबोध्य लौकिक भूमि पर हुई है। उनके द्वारा व्यंजित प्रेम ईश्वरोन्मुख है पर सामान्यत: यह प्रेम लौकिक भूमि पर ही संक्रमण करता है। परमप्रिय के सौंदर्य, प्रेम क्रीड़ा और प्रेमी के विरहोद्वेग आदि का वर्णन उन्होंने इतनी तन्मयता से किया है और उनके काव्य का मानवीय आधार इतना पुष्ट है कि आध्यात्मिक प्रतीकों और रूपकों के बावजूद उनकी रचनाएँ प्रेम समर्पित कथाकाव्य की श्रेष्ठ कृतियाँ बन गई हैं। उनके काव्य का पूरा वातावरण लोकजीवन का और गार्हस्थिक है। प्रेमाख्यानकों की शैली फारसी के मसनवी काव्य जैसी है।

इस धारा के सर्वप्रमुख कवि जायसी हैं जिनका 'पद्मावत' अपनी मार्मिक प्रेम व्यंजना, कथारस और सहज कला विन्यास के कारण विशेष प्रशंसित हुआ है। इनकी अन्य रचनाओं में 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' आदि हैं, जिनमें सूफी संप्रदाय संगत बातें हैं। इस धारा के अन्य कवि हैं कुतबन, मंझन, उस्मान, शेख, नबी और नूरमुहम्मद आदि।

ज्ञानमार्गी शाखा के कवियों में विचार की प्रधानता है तो सूफियों की रचनाओं में प्रेम का एकांतिक रूप व्यक्त हुआ है। सगुण धारा के कवियों ने विचारात्मक शुष्कता और प्रेम की एकांगिता दूरकर जीवन के सहज उल्लासमय और व्यापक रूप की प्रतिष्ठा की। कृष्णभक्ति शाखा के कवियों ने आनंद स्वरूप

लीला पुरुषोत्तम कृष्ण के मधुर रूप की प्रतिष्ठा कर जीवन के प्रति गहन राग को स्फूर्त किया। इन कवियों में सूरसागर के रचयिता महाकवि सूरदास श्रेष्ठतम हैं जिन्होंने कृष्ण के मधुर व्यक्तित्त्व का अनेक मार्मिक रूपों में साक्षात्कार किया। ये प्रेम और सौंदर्य के निसर्गसिद्ध गायक हैं। कृष्ण के बालरूप की जैसी विमोहक, सजीव और बहुविध कल्पना इन्होंने की है वह अपना सानी नहीं रखती। कृष्ण और गोपियों के स्वच्छंद प्रेम प्रसंगों द्वारा सूर ने मानवीय राग का बड़ा ही निश्छल और सहज रूप उद्घाटित किया है। यह प्रेम अपने सहज परिवेश में सहयोगी भाव-वृत्तियों से संपृक्त होकर विशेष अर्थवान हो गया है। कृष्ण के प्रति उनका संबंध मुख्यत: सख्यभाव का है। आराध्य के प्रति उनका सहज समर्पण भावना की गहरी से गहरी भूमिकाओं को स्पर्श करने वाला है। सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। वल्लभ के पुत्र बिट्ठलनाथ ने कृष्ण लीलागान के लिए अष्टछाप के नाम से आठ कवियों का निर्वाचन किया था। सूरदास इस मंडल के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। अन्य विशिष्ट कवि नंददास और परमानंददास हैं। नंददास की कला चेतना अपेक्षाकृत विशेष मुखर है।

मध्ययुग में कृष्णभक्ति का व्यापक प्रचार हुआ और वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के अतिरिक्त अन्य भी कई संप्रदाय स्थापित हुए, जिन्होंने कृष्णकाव्य को प्रभावित किया। हितहरिवंश (राधावल्लभी संप्र.), हरिदास (टट्टी संप्र.), गदाधर भट्ट और सूरदास मदनमोहन (गौड़ीय संप्र.) आदि अनेक कवियों ने विभिन्न मतों के अनुसार कृष्ण प्रेम की मार्मिक कल्पनाएँ कीं। मीरा की भक्ति दांपत्यभाव की थी, जो अपने स्वत:स्फूर्त कोमल और करुण प्रेम संगीत से आंदोलित करती हैं। नरोत्तमदास, रसखान, सेनापति आदि इस धारा के अन्य अनेक प्रतिभाशाली कवि हुए जिन्होंने हिंदी काव्य को समृद्ध किया। यह सारा कृष्णकाव्य मुक्तक या कथाश्रित मुक्तक है। संगीतात्मकता इसका एक विशिष्ट गुण है।

कृष्णकाव्य ने भगवान के मधुर रूप का उद्घाटन किया पर उसमें जीवन की अनेकरूपता नहीं थी, जीवन की विविधता और विस्तार की मार्मिक योजना रामकाव्य में हुई। कृष्णभक्ति काव्य में जीवन के माधुर्य पक्ष का स्फूर्तिप्रद संगीत था, रामकाव्य में जीवन का नीतिपक्ष और समाज बोध अधिक मुखरित हुआ। एक ने स्वच्छंद रागतत्त्व को महत्त्व दिया तो दूसरे ने मर्यादित लोकचेतना पर विशेष बल दिया। एक ने भगवान की लोकरंजनकारी सौंदर्यप्रतिमा का संगठन किया तो दूसरे ने उसके शक्ति, शील और सौंदर्यमय लोकमंगलकारी रूप को

प्रकाशित किया। रामकाव्य का सर्वोत्कृष्ट वैभव 'रामचरितमानस' के रचयिता तुलसीदास के काव्य में प्रकट हुआ जो विद्याविद् ग्रियर्सन की कृष्टि में बुद्धदेव के बाद के सबसे बड़े जननायक थे। पर काव्य की दृष्टि से तुलसी का महत्त्व भगवान्द के एक ऐसे रूप की परिकल्पना में है जो मानवीय सामर्थ्य और औदात्य की उच्चतम भूमि पर अधिष्ठित है। तुलसी के काव्य की एक बड़ी विशेषता उनकी बहुमुखी समन्वयभावना है जो धर्म, समाज और साहित्य सभी क्षेत्रों में सक्रिय है। उनका काव्य लोकोन्मुख है। उसमें जीवन की विस्तीर्णता के साथ गहराई भी है। उनका महाकाव्य रामचरितमानस राम के संपूर्ण जीवन के माध्यम से व्यक्ति और लोकजीवन के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन करता है। उसमें भगवान्द राम के लोकमंगलकारी रूप की प्रतिष्ठा है। उनका साहित्य सामाजिक और वैयक्तिक कर्तव्य के उच्च आदर्शों में आस्था दृढ़ करनेवाला है। तुलसी की 'विनयपत्रिका' में आराध्य के प्रति, जो कवि के आदर्शों का सजीव प्रतिरूप है, उनका निरंतर और निश्छल समर्पणभाव, काव्यात्मक आत्माभिव्यक्ति का उत्कृष्ट दृष्टांत है। काव्याभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों पर उनका समान अधिकार है। अपने समय में प्रचलित सभी काव्यशैलियों का उन्होंने सफल प्रयोग किया। प्रबंध और मुक्तक की साहित्यिक शैलियों के अतिरिक्त लोकप्रचलित अवधी और ब्रजभाषा दोनों के व्यवहार में वे समान रूप से समर्थ हैं। तुलसी के अतिरिक्त रामकाव्य के अन्य रचयिताओं में अग्रदास, नाभादास, प्राणचंद चौहान और हृदयराम आदि उल्लेख्य हैं।

इक्कीसवीं शताब्दी के लगभग डेढ़-दो दशक बाद इस अकाल बेला में भारत ही नहीं, बल्कि पूरी दुनिया में धर्मोन्माद और आतंक का जो माहौल दिखाई दे रहा है, उसे नजरअंदाज करना मुश्किल है। कहने की जरूरत नहीं कि इस मानव-विरोधी लहर की बुनियाद विश्व बाजारवाद एवं भूमंडलीकरण की प्रक्रिया है। कई विचारकों ने हमारे समय की धार्मिक मूलगामिता को औद्योगिक पूँजी के बजाय वित्तीय पूँजी के विश्वव्यापी सर्वग्रासी प्रसार से उत्पन्न बाजारवादी मूलगामिता (मार्केट फंडामेंटलइज्म) का पुनरुत्पाद बताया है।

डॉ. राममनोहर लोहिया ने लिखा है कि राजनीति अल्पकालिक धर्म है और धर्म दीर्घकालीन राजनीति। आज की राजनीति भविष्य का धर्म है और आज का धर्म अतीत की राजनीति। सच तो यह है कि संसार का कोई भी धर्म तात्विक दृष्टि से किसी दैवी सिद्धांत के बजाय एक ऐसी आध्यात्मिक चेतना है, जो लगातार परिवर्तित होते रहने वाले अनुभव से निष्पन्न होती है। इसलिए यह कहना

अयुक्तियुक्त न होगा कि धार्मिक प्रश्न मूलत: सामाजिक प्रश्न के अलावा कुछ नहीं होते और सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में बदलाव से कालांतर में धर्म का स्वरुप भी स्वभावत: बदलता है। जिस प्रकार इतिहास के प्रत्येक कालखंड में उदीयमान एवं पतनशील सामाजिक शक्तियों के बीच प्राय: रस्साकशी की स्थिति हुआ करती है, जिसके फलाफल पर ही सामाजिक विकास की प्रक्रिया का भविष्य टिका होता है, उसी प्रकार संसार के विभिन्न धर्मों के भीतर भी उदारवाद एवं कट्टरवाद के बीच तनाव देखा जा सकता है। गौरतलब है कि इस पंथगत रस्साकशी के कुरुक्षेत्र में दोनों ही पंथों के अगुआ अपने-अपने पक्ष को धर्मयुद्ध घोषित करने से कदापि नहीं चूकते और ऐसे तथाकथित धर्मयुद्ध में कट्टरपंथी पतनशील ताकतों के मुकाबले उदीयमान शक्तियों की विजय के लिए यह बहुत जरूरी होता है कि उसे समर्थन देने वाली सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक ताकतें उस युग-विशेष में विकास के एक निश्चित सोपान पर पहुँच चुकी हों।

भक्ति आंदोलन के आविर्भाव को एक ऐतिहासिक-सामाजिक शक्ति के रूप में रेखांकित करते हुए मुक्तिबोध ने ठीक ही इसे मूलत: तद्युगीन आम जनता के दुखों और कष्टों से निष्पन्न माना है। उन्होंने लिखा है कि - 'भक्ति-काल की मूल भावना साधारण जनता के कष्ट और पीड़ा से उत्पन्न है। असल बात यह है कि मुसलमान संत-मत भी उसी तरह कट्टरपंथियों के विरुद्ध था, जितना कि भक्ति-मार्ग। दोनों एक-दूसरे से प्रभावित भी थे, किंतु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि भक्ति-भावना की तीव्र आर्द्रता और सारे दुखों और कष्टों के परिहार के लिए ईश्वर की पुकार के पीछे जनता की भयानक दुखद स्थिति छिपी हुई थी'

मुक्तिबोध ने भक्ति आंदोलन की निर्गुण एवं सगुण धारा के बीच अधिरचना के स्तर पर दिखाई देने वाले अंतर्विरोधों की पृष्ठभूमि में मौजूद तद्युगीन आधारगत अंतर्विरोधों की गहरी छानबीन के बाद, जो निष्कर्ष प्रस्तुत किया है, उसे नजरअंदाज कर पाना असंभव है - 'जो भक्ति आंदोलन जनसाधारण से शुरू हुआ और जिसमें सामाजिक कट्टरपन के विरुद्ध जनसाधारण की सांस्कृतिक आशा-आकांक्षाएँ बोलती थीं,।..उसी भक्ति आंदोलन को उच्चवर्गियों ने आगे चलकर अपनी तरह बना लिया।' उनके अनुसार इसका 'मूल कारण यह है कि भारत में पुरानी समाज-रचना को समाप्त करने वाली पूँजीवादी क्रांतिकारी शक्तियाँ उन दिनों विकसित नहीं हुई थीं।' निर्गुण-शाखा एवं कृष्णभक्ति-शाखा

के बरअक्स रामभक्ति-शाखा को रखकर उन्होंने सवाल खड़ा किया है कि - 'क्या यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि कृष्णभक्ति-शाखा के अंतर्गत रसखान और रहीम - जैसे हृदयवान मुसलमान कवि बराबर रहे, किंतु रामभक्ति-शाखा के अंतर्गत एक भी मुसलमान और शूद्र कवि प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण रूप से अपनी काव्यात्मक प्रतिभा विशद् नहीं कर सका? जबकि यह एक स्वत: सिद्ध बात है कि निर्गुण शाखा के अंतर्गत ऐसे लोगों को अच्छा स्थान प्राप्त था।'

कहना न होगा कि भक्तिकाव्य के किसी अध्येता के लिए उपरोक्त सवाल से मुँह चुराना संभव नहीं है, पर इस संदर्भ में मुक्तिबोध की तर्क-पद्धति से शत-प्रतिशत सहमति से एक महत्त्वपूर्ण सवाल का जवाब पाने की बजाय समस्या के सरलीकरण के खतरे से इंकार नहीं किया जा सकता। वस्तुत: मुक्तिबोध द्वारा खड़ा किया गया प्रश्न एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्रीय प्रश्न है, जिसका संतोषजनक उत्तर प्राप्त करने हेतु साहित्य की दुनिया से थोड़ा बाहर जाकर मध्ययुगीन भारतीय समाज की संरचना का समाजशास्त्रीय विवेचन-विश्लेषण अपरिहार्य है। दीगर बात यह है कि निर्गुण और सगुण के बीच जैसी द्विभाजकता हिंदी के भक्तिकाव्य में है, वह अन्य भारतीय भाषाओं में रचित भक्तिकाव्य के प्रसंग में बहुत हद तक लागू नहीं होती।

यह ठीक है कि समाजशास्त्रीय दृष्टि से मध्ययुगीन भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक शक्तियों के विश्लेषण के बगैर भक्तिकाव्य पर कोई सार्थक बातचीत आज असंभव है, किंतु, इस महान काव्य की केवल ऐतिहासिक अथवा स्थूल समाजशास्त्रीय व्याख्या के अपने खतरे हैं। जिस प्रकार मनुष्य की समाजशास्त्रीय व्याख्या एवं मनोवैज्ञानिक व्याख्या नाभिनालबद्ध होनी चाहिए, उसी प्रकार भक्तिकाव्य का विवेचन-विश्लेषण भी दोनों पद्धतियों की परस्पर संबद्धता के अभाव में यदि एक ओर यांत्रिक समाजशास्त्रीयता का शिकार हो सकता है, तो दूसरी ओर आत्ममुग्धता की हद तक अध्यात्मवाद के रंग में रंग जाने को अभिशप्त। इन अतिवादी, अतिरेकी एवं एकांगी पद्धतियों की अपेक्षा भक्तिकाव्य के संतुलित मूल्यांकन के लिए एक ऐसी समावेशी पद्धति काम्य है, जिसे मोटे तौर पर 'समाजशास्त्रीय सौंदर्यशास्त्र' या 'सौंदर्यशास्त्रीय समाजशास्त्र' कहा जा सकता है। याद रहे कि जेने उल्फ नामक विदुषी की पुस्तक 'सौंदर्यशास्त्र और कला का समाजशास्त्र' (1983) में इसी अभिगम को अपनाने पर बल दिया गया है। इसके बगैर यह समझ पाना असंभव है कि भक्तिकाव्य ने सौंदर्यशास्त्र को किस प्रकार नया आयाम दिया। इसमें कलात्मकता और

ऐतिहासिकता का जैसा रोचक और रसात्मक संवाद है, साहित्य, संगीत और कला की जो त्रिवेणी है, वर्ग-संघर्ष और वर्ग-सहयोग के जो द्वंद्वात्मक दृश्य दिखाई पड़ते हैं तथा सर्वप्रमुख लोकप्रिय जातीय संस्कृति की जो छवियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, उनकी मानवीय अर्थवत्ता एवं सार्थकता क्या है। भक्तिकाव्य के समाजशास्त्रीय विश्लेषण के क्रम में यह बात ध्यान देने योग्य है कि भक्त कवि वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध केवल वहीं खड़े नहीं होते, जहाँ वे उसकी खुलकर निंदा करते हैं। गहराई से विचार करने पर भक्तिकाव्य में जगह-जगह व्यक्त भगवान के स्पर्श की कामना के भी सामाजिक निहितार्थ ढूँढे जा सकते हैं -

पद कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साची कहौं।।
वरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौं।।

कृष्णभक्ति काव्य में 'रासलीला' के प्रसंग में ऐसे अनेकानेक चित्र मिलते हैं, जिनमें नृत्य के दौरान गोपियाँ कृष्ण के और कृष्ण गोपियों के आलिंगन में बद्ध दिखाए गए हैं -

अरुझी कुंडल लट, बेसरि सौं पीत पट, बनमाल
बीच आनि उरझे हैं दोउ जन।
प्रननि सौं प्रान, नैन नननि अंटकि रहे, चटकीली
छबि देखि लपटात स्याम घन
होड़ा-होड़ी नृत्य करें, रीझि-रीझि अंक भरैं,
ता-तार 'थेई-थेई' उछटत हैं हरखि मन।
सूरदास प्रभु प्यारी, मण्डली जुवति भारी, नारि कौ
आँचल लै-लै पोंछत हैं श्रमकन।

सूरदास की कविता में आए उल्लास के इस अपूर्व चित्र पर रीझकर डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है - 'कृष्ण के कुंडलों में राधिका की लट, राधा की बेसर में कृष्ण का पीत पट उलझे (उलझा) हैं (हैं)। नृत्य घनीभूत है न! बनमाल में दोनों ही उलझ गए हैं। होड़ करके नाचते हैं। सामंती निषेधों की बेड़ियाँ पैरों में नहीं हैं, इसलिए प्राक् सामंती समाज की स्वछंदता के ताल पर नाच रहे हैं। प्राणों से प्राण, नैनों से नैनों का मिलना... रीझ-रीझ कर अंक भरना, ता ता थई-थई उछटत पर जब मृदंग पर थाप पड़े, तब नाद की नसेनी पर मन सुन्न महल पर पहुँच जाए। मंडली-जुवती है, अनेक नाचने वाले हैं। सामूहिक

उल्लास है। फिर समग्र क्रिया की पूर्ति के फलस्वरूप आँचल के श्रमकन पोंछना रस निष्पत्ति की पराकाष्ठा है।'

जिस समाज में आबादी का एक बड़ा हिस्सा छुआछूत जैसी अमानवीय प्रथा का शिकार हो, उसमें संत-भक्त कवियों की रचनाओं में भगवान को स्पर्श करने की कामना की अभिव्यक्ति वाले चित्रों को केवल सौंदर्यशास्त्र की आँख से देखना काफी नहीं है।

उल्लेखनीय है कि जिस वेदांत दर्शन को विवेकानंद ने 'मानव जाति द्वारा अब तक हासिल उच्चतम ज्ञान का संग्रह' तथा 'शास्त्रों का शास्त्र' घोषित किया है, वह बहुत हद तक भक्तिकाव्य की सर्वप्रमुख विचारधारा (नोर्मेटिव आइडियोलॉजी) है। विवेकानंद के अनुसार - 'एक आदमी दूसरे आदमी से ऊँचा पैदा हुआ है, इस विचार का वेदांत में कोई स्थान नहीं है।' इसलिए भक्त कवियों द्वारा मनुष्य-मनुष्य के बीच बराबरी की भावना की कलात्मक अभिव्यक्ति स्वाभाविक है।

निर्मला जैन ने भक्तिकाव्य की सौंदर्य-दृष्टि के निर्माण में दार्शनिक विचारधारा की केंद्रीय भूमिका को स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'इस काव्य की मूलवर्ती दृष्टि ठेठ भौतिकवादी भले ही न हो, वस्तुवादी अवश्य है। वस्तु और आत्म, पदार्थ और चेतना के आपसी संबंध के बुनियादी सवाल को सुलझाने की यह केंद्रीय दृष्टि ही जीवन-मूल्यों और तदानुसार सौंदर्य-मूल्यों के विकास की दिशा और प्रकृति का निर्धारण करती है। जो दृष्टि वस्तुजगत को मिथ्या, गौण या नगण्य घोषित करती है, वह कहीं न कहीं समाज में व्याप्त अन्याय और शोषण की मददगार होती है। वह समाज के सुविधा-संपन्न वर्ग की मानसिकता और हितों का प्रतिनिधित्व करती है। इसके विपरीत वस्तुजगत में आस्था रखने के कारण भौतिकवादी दृष्टि का ध्यान मनुष्य और समाज पर केंद्रित रहता है। परिणामत: उसमें सामाजिक अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाने की गुंजाइश बराबर बनी रहती है। भक्तिकाव्य का आराध्य तत्त्वत: अवतार होते हुए भी जीवन की भौतिक आवश्यकताओं से जुड़ा था। जगत को यथार्थ और नित्य मानने वाले ये कवि इंसान के पक्षधर थे।'

भक्तिकाव्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की समस्याओं पर विचार करते हुए यह बात भी काबिले गौर है कि भक्त कवियों ने उपनिषद्-काल से चली आ रही ब्रह्म की अवधारणा (कंसेप्शन) को संवेदना के स्तर पर तत्त्वांतरित करके उसे (परसेप्शन) में तब्दील किया। इस क्रम में उन्होंने 'ब्रह्म' की अमूर्त

अवधारणा को पहले इंद्रियगोचर रूप प्रदान किया और तब उसे राग का विषय बनाया। गौरतलब है कि भक्त कवियों के इंद्रियबोध की अनेक स्तरीयता के चलते उनकी अभिव्यक्ति-पद्धति में भी स्पष्ट अंतर दिखाई देता है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक महत्त्वपूर्ण भक्त कवि की एक निजी व विशिष्ट अभिव्यक्ति की संरचना है, जिसके मूल में उसकी एक विशिष्ट एवं वैयक्तिक अनुभूति की संरचना निहित है। स्पष्ट ही मनुष्य की निजी एवं वैयक्तिक इंद्रियबोधीय विशिष्टता के चलते बाह्य बोध को लेकर उसकी प्रतिक्रिया को, जो एक भिन्न व विशिष्ट आयाम प्राप्त होता है, वह मोटे तौर पर दो प्रकार का हो सकता है -आवेगात्मक और संवेदनात्मक। इनमें आवेगात्मकता का जहाँ तात्कालिक महत्त्व होता है, वहीं संवेदनशीलता का दीर्घकालिक और इसका संबंध संयम, सुरुचि एवं संस्कृति से होता है। सच तो यह है कि, जो कवि जितना ज्यादा संवेदनशील होगा, वह उतना ही बड़ा सौंदर्य-पारखी भी। भक्तक वियों की संवेदनशीलता की व्यापकता और गहराई की द्वंद्वात्मकता को रेखांकित करते हुए निर्मला जैन ने सही लिखा है कि - 'जो संवेदनशीलता समाज में व्याप्त अन्याय से चोट खाकर व्यंग और फटकार की तीव्रता में, अन्याय का विरोध करने में प्रकट होती है, वही 'प्रेम की पीर' से उत्पन्न व्याकुलता में।'

'पद्मावत' के रचयिता मलिक मुहम्मद जायसी का वैशिष्ट्य कवि की आवेगशीलता के बजाए संवेदनशीलता में निहित है, जिसके परिणामस्वरूप उसकी अभिव्यक्ति पाठक के भीतर अपेक्षाकृत स्थिर, व्यापक एवं गहरी संवेदनात्मक अनुगूँज उत्पन्न कर सकने में सक्षम है। यह अनुगूँज 'पद्मावत' में जगह-जगह पर जायसी द्वारा प्रयुक्त अनूठी शब्दावली व मुहावरों में सुनी जा सकती है, जिसके माध्यम से वहाँ पूरी कायनात को 'शब्द' में उतार दिया गया है। प्रसंगवश 'पद्मावत' में सिंहलगढ़-वर्णन के प्रसंग में आया एक दोहा दृष्ट्य है, जो अभिव्यक्ति की सादगी के बावजूद एक अर्थवान बिंब-सृष्टि का अन्यतम उदाहरण है -

मुहमद जीवन जल भरन रहेंट घरी की रीति।
घरी सो आई ज्यों भरी ढरी जनम गा बीति॥

गौरतलब है कि यहाँ 'रहँट' के चलने की वजह से पानी भरने और खाली होने का, जो बिंब बनता है, वह प्रकारांतर से जिंदगी और मौत की निरंतर चलने वाली चाक्रिक प्रक्रिया को भी व्यंजित करता है। इस अतिरिक्त व्यंजना की कुंजी छोटे-से क्रिया-प्रयोग 'गा' में निहित है, जो ठेठ अवधी का क्रिया-पद है और

ऊपर कथित चाक्रिक प्रक्रिया में हर्ष या विषाद् जैसे भाव के बजाय चलने की प्रक्रिया पर बल देता है। इसी प्रकार सिंहलद्वीप के पक्षियों का वर्णन करने के दरम्यान जायसी ने लिखा है–

जाँवत पंखि कहे सब बैठे भरि अँबराउँ।
आपनि आपनि भाषा लेहिं दइअ कर नाउँ॥

ऊपर उद्धृत पंक्तियों में निहित रचनात्मक तनाव पर प्रकाश डालते हुए रामस्वरुप चतुर्वेदी लिखते हैं कि इस दोहे के अभाव में वृक्षों पर बैठे दर्जनों पक्षियों की एक सूची बन जाती, पर उस अमराई का कोई काव्यात्मक बिंब न बन पाता। अपनी-अपनी शाखा पर बैठकर अपनी-अपनी भाषा में प्रभु का नाम-स्मरण करते हुए पक्षियों का यह रूप-वर्णन एक सीमा तक प्रस्तुतपरक होते हुए भी बिंब की छवि प्राप्त कर लेता है। इस बिंब-प्रक्रिया में अवधि के एक बहु-प्रचलित शब्द - 'दइअ' के प्रयोग से उत्पन्न वैशिष्टय की ओर इंगित करते हुए डॉ. चतुर्वेदी कहते हैं कि यदि 'दइअ' का स्मरण करते मनुष्य चित्रित होते तो इस शब्द में अर्थ के इतने विस्तार की संभावना न होती। परंतु छोटे, विनम्र पर आकर्षक पक्षियों के संदर्भ में 'दइअ कर नाउँ' प्रभु की भाँति ही विराट हो जाता है। 'पंखि' की निरीहता और 'दइअ' की विराटता के रचनात्मक तनाव से यहाँ अर्थ का संश्लिष्ट विकास संभव होता है। दीगर बात यह है कि 'ईश्वर' और 'अल्लाह' से अलग अवधी का बहु-प्रचलित 'दइअ' प्रयोग इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि वह हिंदू, मुसलमान या किसी भी धार्मिक परंपरा से अलग प्रभु की उपस्थिति का सीधा साक्षात्कार करा पाता है। 'ईश्वर' या 'अल्लाह' जैसे शब्दों के साथ अनेक धार्मिक-सांप्रदायिक संस्कार जुड़े हुए हैं। 'दइअ' ग्रामीण जन-जीवन में धर्म से उतना नहीं, जितना विनम्र आस्था से जुड़ा हुए है। इस तरह जायसी का यह शब्द-प्रयोग एक पंक्ति या एक दोहे को नहीं, वरन एक पूरे अंश को वर्णन के धरातल से उठाकर काव्य-अनुभव बना देता है।

'पद्मावत' ऐसे ही अनेकानेक अनोखे काव्य-अनुभवों का जीवंत समुच्चय होने के कारण अन्य भक्त कवियों की कृतियों से न केवल भिन्न है, बल्कि विशिष्ट भी। ऐसे भी किसी रचना की श्रेष्ठता का निर्धारण केवल इस आधार पर करना औचित्यपूर्ण नहीं माना जा सकता कि वह पूर्ववर्ती या परवर्ती रचनाओं की तरह है या नहीं, जो श्रेष्ठ मानी जाती है। बर्तोल्त ब्रेष्ट के शब्दों में कहें तो हर दिशा में किसी कलाकृति में व्यक्त की गई जिंदगी का, व्यक्त की जा रही जिंदगी से मिलान करना चाहिए, बजाय इसके कि उसकी दूसरी वर्णित जिंदगी

से तुलना की जाए। इस तरह देखें तो जायसी मध्ययुगीन सामंती समाज में व्याप्त केवल संकीर्णता ही नहीं, बल्कि उसके विरुद्ध उत्पन्न अत्यधिक उदारता के खतरे को लेकर भी सचेत दिखाई पड़ते हैं। इसीलिए 'पद्मावत' में इतिहास-चेतना के साथ-साथ अंतस और बाह्य की द्वंद्वात्मकता के अलावा जन-जीवन की मार्मिकता के ऐसे अनेकानेक अछूते पहलू उजागर हुए हैं, जिनके अभाव में बड़े से बड़े कलाकार की रचना अपने दायित्व व लक्ष्य से च्युत हो जाती है। आहत भावनाओं, पूर्वाग्रहों एवं अस्मितावाद की राजनीति की साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में कैसी परिणतियाँ हो सकती हैं, इसका उदाहरण यदि एक ओर दलित विमर्श के नाम डॉ. धर्मवीर की कबीर संबंधी पुस्तकें हैं, तो दूसरी ओर डॉ. रामविलास शर्मा सरीखे प्रगतिशील आलोचक का तुलसीदास विषयक मंतव्य। सच तो यह है कि साहित्य-क्षेत्र में युधिष्ठिरों की फुसफुसाहटों और शिखंडियों की ललकारों के बीच जन-जीवन के द्वंद्व को समझ-बूझकर द्वंद्वमुक्त सोच-विचार रखने वाले लोग हर जमाने में अल्पसंख्यक रहे हैं और 'पद्मावत' का रचयिता भी उन्हीं में से एक है। इसमें जायसी अपने पात्रों को कुछ इस तरह छूते हैं कि मनुष्य को अतिमानव बनाने वाली इतिहास की प्रवृत्ति तथा कई बार सामंती रसोपलब्धि के सूफीकरण के प्रयास के बावजूद वहाँ इतिहास की विडंबना के चित्रण के दौरान कवि और पाठक के बीच काल का व्यवधान नहीं रह जाता। 'पद्मावत' में ऐसे कई सामान्य चरित्र भी हैं, जिनकी आम भारतीय तटस्थता और दार्शनिकता के बरअक्स ही तद्युगीन इतिहास की विडंबना को उसके व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। वस्तुतः जायसी का लक्ष्य मध्ययुगीन सामंती समाज के उन तमाम अंतर्विरोधों का संवेदनात्मक रेखांकन है, जिसकी क्रूरता का ज्वालामुखी फूटकर अंततः सबको तहस-नहस कर देता है -

जौंहर भई इस्तिरी पुरुख भए संग्राम।
पातसाहि गढ़ चूरा चितउर भा इसलाम॥

कहना न होगा कि 'साहित्य का समाजशास्त्र' के क्षेत्र में अपने अप्रतिम योगदान के लिए विश्व प्रसिद्ध विचारक लूसिए गोल्डमान की शब्दावली का इस्तेमाल करते हुए विजयदेव नारायण साही ने 'जायसी' पुस्तक में 'पद्मावत' में निहित 'विषाद्-दृष्टि'(ट्रैजिक विजन) की सामाजिकता को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भली-भाँति उजागर किया है। अपने विवेचन-विश्लेषण के क्रम में साही ने इसी प्रसंग पर रचित अमीर खुसरो का एक फारसी छंद भी उद्धृत किया है जिसमें अलाउद्दीन खिलजी पर व्यंग्य करते हुए खुसरो कहते हैं कि - 'तुमने

अपने घमंड की तलवार से हृदय के देश को वीराना बना दिया और अब तू इस पर सुलतान बनकर बैठा है।'

'पद्मावत' में जगह-जगह सूफ़ीमत की शब्दावली, मुहावरे एवं प्रतीक-विधान के इस्तेमाल तथा सामंती रसोपलब्धि के सूफ़ीकरण के बावजूद जायसी की काव्यानुभूति की संस्कृति एकायामी नहीं है। वस्तुतः यह कृति उस जमाने में प्रचलित तमाम तरह की धार्मिक प्रणालियों व अधिरचनाओं का छोटा-मोटा विश्वकोश प्रतीत होती है, जिसकी रचना के मूल में कवि की सर्वसमावेशी प्रकृति है। चूँकि जायसी के यहाँ अपवर्जन के लिए कोई जगह नहीं है, इसलिए उनसे वैसी धर्मनिरेपक्षता की माँग करना एक प्रकार से ज्यादती होगी, जो राष्ट्रीयता एवं संस्कृति में धर्म के एक संघटक अवयव के रूप में समावेश किए जाने का विरोध करती है। यह सही है कि धर्मनिरपेक्षता का अर्थ 'सर्वधर्म समभाव' कदापि नहीं होता और इसकी अवधारणा शुरू से यह रही है कि प्रत्येक नागरिक के धार्मिक विश्वास (या नास्तिकता) की स्वाधीनता बरकरार रखने के बावजूद राजकीय एवं प्रशासनिक क्रियाकलापों में धार्मिक मान्यताओं के लिए कोई जगह नहीं होनी चाहिए। किंतु, स्मरणीय है कि धर्मनिरेपक्षता विषयक इस मंतव्य का स्वरूप सिद्धांततः आधुनिकता व आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के साथ निर्मित हुआ है और ऐसी धारणाओं को 'सर्वधर्म समभाव' रूपी बीज से अंकुरित परवर्ती तर्कसम्मत् चिंतन कहा जा सकता है।

जाहिर है कि मध्यकाल में ऐसे वैज्ञानिक एवं तार्किक भावबोध और चिंतन सरणि के अभ्युदय, विकास तथा प्रसार के लिए कोई अवकाश नहीं था। इसलिए आज चेतना व चिंतन के विकसित धरातल पर खड़े होकर भक्तिकालीन कलाकृतियों में निहित उदार मानववाद को कमतर समझना एक श्रेष्ठ रचना के साथ गैर-रचनात्मक तरीके से पेश आना ही कहा जाएगा और यह नजरिया न केवल कला-विरोधी होगा, बल्कि अनैतिहासिक भी। वस्तुतः 'पद्मावत' के पाठ को भक्तिकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों में रखकर ही जायसी के रचनात्मक अभिप्राय एवं प्रभाव की पड़ताल करना तथा उनकी रचनात्मक उपलब्धियों एवं संभावनाओं का जायजा लेना संभव है। कहने की जरूरत नहीं कि 'पद्मावत' धार्मिक संवेदना एवं धर्मनिरेपक्ष संवेदना के घनिष्ठ और जटिल संबंध की समझ पैदा करने वाली महान कालजयी कृति है।

अतीत एवं परंपरा के प्रति अपने नजरिए का खुलासा करते हुए राल्फ फाक्स ने लिखा है कि अतीत हमारे लिए कोई शौकिया वस्तु नहीं है, हम उसका

उपयोग वर्तमान में बेहतर तरीके से जिंदा रहने के लिए करना चाहते हैं। यह बात जिस हद तक अतीत पर लागू होती है, उसी हद तक अतीत की रचनाओं पर भी, किंतु इसके लिए अतीत में रचित कृतियों को उनकी गतिशीलता और परिवर्तनों के रूप में, उनके पारस्परिक संबंधों और घात-प्रतिघातों के रूप में देखकर गहरी छानबीन अपरिहार्य है। यह देखे बगैर कि साहित्यिक कृतियाँ किन ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक संकटों से पैदा हुए संवेदनात्मक आलोड़न के तहत रची जाती हैं और दूसरी कृतियों के साथ उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया कैसी होती है, यदि कोई अध्ययन किया जाएगा तो स्वभावत: उससे अनेकानेक भ्रमोत्पादक निष्कर्ष निकलेंगे और समझ पाना असंभव होगा कि कैसे भक्त कवि तद्युगीन दुनियावी सच्चाइयों से जुझती अपनी लहूलुहान आत्मा की पीड़ा को धार्मिक चेतना जैसा 'एब्सोल्यूट' रूप प्रदान करते हैं।

रघुवीर सहाय का कहना है कि - 'कविता जिन चीजों को बचा सकती है, उनको पहचानने के लिए आप मुक्त हैं, पर अंतत: वे वहीं होंगी, जो कि आदमी को कहीं न कहीं आजाद करती हैं।' इस दृष्टि से विचारने पर स्पष्ट होता है कि जायसी की कविता भले ही तद्युगीन समाज को बनाने या बिगाड़ने वाले सत्ता-संघर्ष में कोई सार्थक हस्तक्षेप न कर पाई हो, पर वह अपने समय का एक ऐसा संवेदनात्मक साक्ष्य जरूर है, जिससे गुजरना आज भी हमें किसी सीमा तक अवश्य मुक्त करता है। याद रहे कि आज के पाठक की यह मुक्ति किसी भी अर्थ में अपने समय की वास्तविकता की विस्मृति का जरिया नहीं हो सकती। 'हिंसा की सभ्यता' एवं 'क्रूरता की संस्कृति' के इस उपभोक्तावादी युग में 'पद्मावत' से गुजरना खुद को लगभग याद दिलाने जैसा है कि हमारे अपने समय-समाज की वास्तविकता क्या है? वस्तुत: जायसी अपनी कविता में जगह-जगह पर शब्दों के चारों ओर वह 'स्पेस' रचते दिखाई पड़ते हैं, जिनमें तथाकथित आधुनिक जीवन की विसंगतियों व विडंबनाओं के चलते अवसन्न पाठक शिरकत करके एक हद तक संतृप्त महसूस कर सकता है। यह इसलिए संभव है, क्योंकि सूफी मतवाद से संबंधित दार्शनिक आडंबर व दिखावे के बजाय कवि का मकसद तद्युगीन औसत भारतीय जीवन में मौजूद बुनियादी रागात्मकता का उद्घाटन रहा है। स्पष्ट ही जायसी के 'प्रेम की पीर' का स्वरूप नारद-भक्ति-सूत्र के 'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम। मूकास्वादनवत्' से न केवल गुणात्मक रुप में भिन्न है, बल्कि कहीं ज्यादा मानवीय भी। 'ठेठ अवधी का ठाठ' को मध्यकाल में काव्य-सृजन के शिखर पर पहुँचाने में सफल महाकवि

जायसी को विजयदेव नारायण साही ने ठीक ही 'हिन्दी का पहला विधिवत् कवि' और उनके 'पद्मावत' को सुविख्यात पश्चिमी भारतविद् थॉमस डी. ब्रुइज्न ने 'रूबी इन द डस्ट' कहा है स्पष्ट ही 'पद्मावत' जैसी किसी कलाकृति को आधार बनाकर निर्मित फिल्म अपने तमाम तामझाम के बावजूद उसकी कला-चेतना की ऊँचाई का स्पर्श नहीं कर सकती, क्योंकि कवि अपने पाठकों की कल्पनाशीलता को जहाँ उद्वेलित करता है, वहीं फिल्म उसे मूर्त रूप प्रदान करके सीमित कर देती है। नतीजतन, कालजयी रचनाएँ इतिहास की प्रक्रिया से गुजरने के बावजूद इतिहास का अतिक्रमण करती हुई अक्सर फिल्म के मुकाबले में बाजी मार ले जाती हैं।

भक्ति काव्य का सामाजिक एवं सांस्कृतिक योगदान

14वीं सदी के मध्य से 17वीं सदी के मध्य तक अनवरत प्रवाहित भक्ति धारा भारत वर्ष में समय के जिस बिन्दु पर आंदोलनात्मक तेवर प्राप्त करती है। वह भारतीय समाज के लिए जड़ता, ठहराव किन्तु विस्फोट का काल रहा है। जैसा कि ग्रियर्सन की मान्यता है कि भक्ति आंदोलन बिजली को कौंध के समान अस्तित्त्व में आता है वस्तुतः ऐसा नहीं है।

उसकी जड़े सदियों पूर्व भारतीय संस्कारों, रीतियों, नीतियों एवं मूल्यों में व्याप्त हैं। वैदिक काल से लेकर 14वीं सदी तक भारतीय मनीषा ने सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र न जाने कितने उतार चढ़ाव का सामना किया एवं समय-समय पर समाज की नियामक शक्तियाँ परिवर्तित होती रही, जिनका सुनिश्चित परिणाम धर्म का आध्यात्मिक आंदोलन के रूप में प्रतिष्ठित होना था।

आचार्यों ने भक्ति काव्य को एक विराट आंदोलन में विवेचित-विश्लेषित करते हुए यह पाया है कि प्रथम बार भारतीय समाज का आधार भूमि इतनी विशुद्ध हो सकी है कि जाति सम्प्रदाय, धर्म एवं अन्य सामाजिक भेद बहुत पीछे छूट गए हैं। जैसा कि मुक्तिबोध का मानना है कि प्रथम बार शूद्रों ने अपने सन्त पैदा किए, प्रथम बार युगों-युगों से दलित शोषित जनता, अभिजात्य वर्ग के सामने सिर उठाकर खड़ी हो सकी।

यह भक्ति आंदोलन की ही देन है। वस्तुतः भक्ति जिस संदर्भ में आन्दोलनात्मक तेवर प्राप्त करती है, वह स्वभावतः सामाजिक ही हो सकता है। आचार्य शुक्ल प्रथम समीक्षक थे, जिन्होंने भक्ति काव्य का मूल्यांकन लोक धर्म और लोक जागरण की दृष्टि से किया, यद्यपि उनकी अपनी कुछ सीमाएँ है

जिसके तहत वे मत काव्य धारा में अन्तर्निहित प्रगतिशील वस्तुतत्त्व का सटीक विश्लेषण नहीं कर सके।

किन्तु उन्होंने साहित्यिक मूल्यांकन को जनवाद की, जो कसौटी प्रदान की उससे भक्ति काव्य के परवर्ती मूल्यांकन को बल मिला।

डॉ. रामविलास शर्मा भक्ति साहित्य के सामाजिक पक्ष को ही इंगित करते हुए कहते हैं–

"एक समय रहम्यवादी कवियों ने लोक जागरण में बहुत बड़ी भूमिका निभाई रहस्यवादी कवियों ने मनुष्य में ब्रह्म सत्ता का साक्षात्कार करके मानव धर्म का मार्ग ही प्रशस्त किया।"

अस्तु जिस काव्य को आचार्यों ने राष्ट्र की शिराओं में रक्त का संचार करने वाला कहा है निम्न वर्ग के अन्दर आत्मविश्वास जाग्रत करने वाला कहा है, लोक जागरणकारी कहा है, उसकी सामाजिक भूमिका का सांगोपांग मूल्यांकन करना आवश्यक है।

विवेच्य विषय–वस्तु के संबंध में प्रथम प्रश्न तो यह उठता है कि आचार्य शुक्ल से लेकर द्विवेदी जी, रामविलास शर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, नामवर सिंह, शिव कुमार मिश्र आदि आचार्यों ने जिस भक्ति काव्य का सामाजिक मूल्यांकन करने पर बल दिया है, क्या उसकी मूल चिंता सामाजिक ही है?

वस्तुतः समूचे भक्ति काव्य की मूल चिन्ता आध्यात्मिक है, इसके बावजूद आज अगर वह हमें किसी भी कारण सर्वाधिक प्रभावित, प्रेरित, उद्वेलित करता है तो अपने उदात्त सामाजिक दृष्टि के कारण। चूंकि इस काल खण्ड के संतों और भक्तों की आध्यात्मिक चिंता आकाशीय नहीं है, बल्कि भारतीय जीवन से ही उपजी है और इसी पर प्रतिष्ठित है, इसलिए उनकी आध्यात्मिक चिता का समीकरण सामाजिक सोच को कही भी काटता नहीं है। जहाँ कि सामाजिक चिंता, आध्यात्मिक चिंता से संग्रष्ति है।

बुद्ध, महावीर आदि महापुरुषों ने जिस विचार–क्रान्ति का आरम्भ किया था, उसकी भावात्मक निष्पत्ति सन्त काव्य धारा में ही होती है। सन्त काव्य धारा के पूर्व समाज की नियामक शक्तियाँ इसी विस्फोटक स्थिति की तरफ ले जा रही थीं, जहां रूढ़ अभिजात्य और सामंती समाज को खुली चुनौती मिल सकी।

कबीर, नानक और रैदास का ब्रह्म तमाम पारम्परिक, दार्शनिक मान्यताओं से ऊपर है और चूंकि वह घट–घट में व्याप्त है, इसलिए ब्रह्म के साधकों के लिए ईश्वर के न्याय, सत्य और ऐश्वर्य की सत्ता के अनुरूप मानवीय सत्ता की

परिकल्पना सहज साध्य हो जाती है और यही कारण है कि एकला चलने का व्रत लेने वाले कबीर हिन्दू और मुस्लिम-दोनों धर्मों से तटस्थ रहने वाले कबीर सामंती समाज की विच्छित दशा को देखकर रो पड़ते हैं-

चलती चाकी देख के दिया कबीरा रोय,
दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय।

सन्त काव्य धारा ऐसे समाज की कल्पना करती है, जिसमें धार्मिक रूढ़ि, परम्परागत, अंधविश्वास, जातिगत, वर्णगत, सम्प्रदायगत भेद एवं नाना प्रकार के कर्मकांडों के लिए कोई जगह नहीं है। जो समाज अपने अनुभव में अपनी संवेदना में ईमानदार है, श्रमशील है, और प्रवृत्ति में निवृत्ति का साधक है वह समाज इन संतों के लिए काम्य है-

संतों वह घर सबसे न्यारा।
अरेइन दोउन राह न पाई।
पांडे बूझी पियहू तुम पानी।

संत काव्य धारा में कबीर के साहित्य में समाज के प्रति जो उदग्र (प्रगतिशील) क्रान्तिधर्मी, वैज्ञानिक विवेकवाद से समर्थित स्वच्छ, सरल एवं ईमानदार दृष्टिकोण का परिपाक पाया जाता है, वह सन्त मत के अन्य कवि दादू, रैदास, मलूक, पीपा, सेन, नानक, पल्टू, भीखा, दरिया, रज्जब साहब आदि के यहाँ प्राप्त नहीं होता।

यद्यपि इन सारे संतों की दार्शनिक एवं सामाजिक मान्यताएँ लगभग एक जैसी हैं, लेकिन प्रतीत होता है कि इतिहास को सामाजिक स्थिति पर जितना आक्रोश व्यक्त करना था जितना झाड़-फटकार करना था, वह सब कबीर में मूर्त हो गया है।

लेकिन किंचित् इस तथ्य की ऐतिहासिकता से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि प्रायः निम्न वर्ग से आए हुए ये सभी सन्त दलित वर्ग के अंदर अनोखे आत्मविश्वास का संचार करते हैं और इसी दृष्टि से इनके काव्य के आध्यात्मिक आस्वाद में समाज के लिए प्रगतिशील दृष्टि का उन्मेष मिलता है, जिसकी प्रासंगिकता भक्ति काव्य की अन्य धाराओं से अपेक्षाकृत कहीं अधिक है।

निर्गुण भक्ति धारा की दूसरी शाखा, सूफी काव्य धारा का भी महत्त्व, उसकी सामाजिकता के कारण बढ़ जाता है। किंचित् आचार्यों ने यहाँ तक कह डाला है कि सूफी काव्य सांस्कृतिक मेलजोल की उपज है, इस तथ्य में आंशिक सच्चाई हो सकती है।

वस्तुतः सूफी काव्य की, जो लोकधर्मी जमीन है उसका सामाजिक मूल्यांकन अनिवार्यतः उसके काव्य को प्रमाणिक रूप से खोलता है। जैसा कि विजयदेव नारायण साही का कहना है कि जायसी सूफी हो न हों वे कवि अवश्य हैं। वे प्रेम के कवि हैं और धर्मनिरपेक्ष मानसिकता के कवि हैं।

आचार्य शिव कुमार मिश्र, राम स्वरूप चतुर्वेदी ने जायसी की धर्मनिरपेक्ष दृष्टि को सराहा है। वस्तुतः सच्ची रचनाशीलता का साक्ष्य कथ्य की लोकधर्मी जमीन से मिल जाता है। जिस सामन्ती संस्कृति में नारी विजय की वस्तु थी और उसे पाने के लिए बड़े-बड़े युद्ध हुआ करते थे उसे जायसी खुदा का दर्जा देते हैं और उसे पाने के लिए रत्नसेन राजसी वैभव त्यागकर जोगिया बाना धारण कर लेता है।

जायसी अपनी कथा के इर्द-गिर्द समूचे भारतीय समाज की रीति, नीति, परम्परा नैतिक मूल्य, उत्सव आदि को इस तरह ढूँढते हैं कि कथ्य के माध्यम से ही सम्प्रषित होने वाला लोक-समारोह बड़ी सहजता के साथ यह ज्ञापित करने लगता है कि यहाँ की प्रकृति जमीन नदी, नाले, पशु-पक्षी, वन-उपवन से कवि का कितना गहरा नाता है। इसे जायसी का लोक प्रेम और राष्ट्रप्रेम दोनों कहा जा सकता है। सन्त काव्य में मानव प्रेम, मानव-धर्म की सत्ता को सर्वोपरि माना गया है। ठीक यही बात सूफी काव्य में देखने को मिलती है।

इसका सबसे बड़ा रचनात्मक सामाजिक उपक्रम यह है कि सामंती संस्कृति का अतिक्रमण करके कवि सहज नैसर्गिक जीवनोत्सव की प्रतिष्ठा करता है, जिसकी जमीन प्रेम की जमीन होती है और जिसकी दृष्टि सत्य न्याय और स्वाभिमान की और होती है।

यद्यपि कुछ प्रगतिशील समीक्षकों का मानना है कि संत काव्य धारा जिस प्रगतिशील अन्तर्वस्तु को लेकर चल रही थी, उसे अभिजात्य वर्ग बीच में ही खंडित कर देता है। इस तथाकथित वर्ग ने ही सगुण काव्य के द्वारा निर्गुण के किए-कराए पर पानी फेर दिया।

लेकिन अन्य आचार्य यथा डॉ. प्रेम शंकर डॉ. मैनेजर पाण्डेय आदि का मानना है कि इस तथ्य में आंशिक सत्य ही है। डॉ. प्रेम शंकर सूर काव्य में चारागाही संस्कृति के आलोक में उसकी सामाजिकता की गहरी जाँच पड़ताल करते हैं और डॉ. मैनेजर पाण्डेय भी स्वच्छन्दता के शिखर कृष्ण के क्रान्तिधर्मी चरित्र की व्याख्या करते हैं।

वह चरित्र जो कि अपने समय के सामती और अभिजात्यवाद को घोषित चुनौती देता है। जिस काल खण्ड में मातृत्व गर्हित हो चला था नारियाँ हरमों की वस्तु बन चुकी थीं और विलासिता के कारण राजाओं का ध्यान प्रजा की तरफ एकदम नहीं जाता था, उस काल खण्ड में सूरदास अपनी ईमानदार एवं चरम संवेदनशील रचनाशीलता का साक्ष्य देते हुए यशोदा जैसी मां की प्रतिष्ठा करते है और बल्लभाचार्य-निर्दिष्ट म्लेच्छाक्रांत धरती पर मातृत्वरूपी दूध की गंगा ही बहा देते हैं।

शिशु को ब्रह्म के रूप में चित्रित करके वह मानवीय संवेदना के कोमलतम तैतु पर उगली रखते हैं। राजसी विलासिता के समक्ष यह गृहस्थ पावन की प्रतिष्ठा है। सूर का काव्य, नारी की शक्ति के रूप में प्रतिष्ठा करके उस समय के समाज को सबसे बड़ा उपहार देता है। भ्रमर गीत प्रसंग पर आचार्य शुक्ल जैसे मर्यादावादी समीक्षक भी रीझ जाते हैं।

हिन्दी भक्ति काव्य के सामाजिक सरोकार

हिन्दी भक्ति काव्य मीराबाई,कबीर और संत रविदास ने रचे थे। उन्होंने शिक्षा में पारंगत न होने के बावजूद एक उम्दा भक्ति काव्य समाज को दिया है। सामाजिक चेतना और आध्यात्मिकता की ओर ले जाने वाले इन हिन्दी भक्ति काव्य ने भारत में संस्कृति का सिंचन किया है।

मीराबाई ने कृष्ण भक्ति में लीन होकर,राजा राणा के राज्य को तिलांजलि दे दी थी। राणा जी ने मीरा की परीक्षा के लिए जहर दिया था। वो कृष्ण के प्यार में जहर भी पी लेती है फिर भी,उसे कोई तकलीफ नहीं हुई थी। मीरा के पद समाज को श्री कृष्ण की भक्ति की ओर ले जाने में सफल हुए हैं।

कबीर जी भी उतने ही धार्मिक थे। उनका साहित्य भी समाज के जीवन के साथ सरोकार रखता है। हिन्दी भक्ति काव्य के रूप में वाल्मीकी रचित रामायण,हिन्दी महाभक्ति काव्य है। रामायण ने सामाजिक जीवन कैसे जिया जाता है,पितृ प्रेम,मातृ प्रेम,पत्नी प्रेम,भातृ भाव,प्रजा प्रेम,मित्र प्रेम आदि की रीत समाज को दी है।

महाभारत भी एक हिन्दी महा काव्य है,जिसकी रचना वेद व्यास जी ने की थी। रामायण और महाभारत दोनों पहले भारतीय धर्म भाषा,संस्कृत में लिखे गए थे,लेकिन उसका हिन्दी में संस्करण भी किया गया है। ये दोनों हिन्दी भक्ति ग्रन्थ सामाजिक जीवन में उन्नति लाते हैं। सामाजिक जीवन की परिभाषा सिखाते हैं।

इसी तरह,संत रविदास जी द्वारा रचे गए भक्ति काव्य भी एक नयी दिशा देते हैं। उन्होंने मांसाहार और नशे से दूर रहने की सीख दी है। वो कर्म-कांड और मूर्ति पूजा के विरोधी थे। इरान की यात्रा में मुलाकात के दरम्यान,वो बेगमपुरा शहर की कल्पना करतें हैं। बेगमपुरा ऐसा होना चाहिए,जहाँ जात-पात में भेदभाव न हो,सबको अन्न मिले,सब सुख-चैन से जिएं और धर्म भावना के साथ अपना जीवन व्यतीत करें,ऐसी सुन्दर कल्पना संत रविदास जी ने 600 साल पहले की है। संत रविदास के 40 भक्ति पद, जो पंजाब में गुरु नानक जी के 'ग्रन्थ साहिब' में शामिल हैं, जो जन-जीवन को एक नयी ऊर्जा प्रदान करते हैं। इसी तरह,हिन्दी भक्ति काव्य सामाजिक चेतना और संस्कृति के जतन के लिए एक उम्दा हिन्दी भक्ति काव्य है। वो समाज जीवन से बहुत गहरा सरोकार रखता है।

हिन्दी भक्ति काव्य की रचना संत रविदास,मीराबाई और संत कबीर ने बहुत की है। संत रविदास का साहित्य हिन्दी,अंग्रेजी और पंजाबी में भी उपलब्ध है।

संत रविदास की वाणी

जो तुम गिरिवर तो हम मोरा,
जो तुम चन्द्र तो हम भये है चकोरा।
माधवे तुम न तोरो तो हम नहीं तोरी,
तुम सो तोरी तो किन सो जोरी
जो तुम दिवरा तो हम बाती,
जो तुम तीरथ तो हम जाती।
रैदास राती न सोइए, दिवस न करिये स्वाद,
अहिनिसी हरिजी सुमिरिए, छांड सकल अपवाद।
चित सुमिरन करो नैन अवलोकनों,
श्रवण वाणी सौ जस पूरी राखौ।
मन सो मधुकर करो,चरण हृदय धरो,
रसना अमृत सम नाम भाखो।
मेरी प्रीति गोविन्द खोजनी घेरे,
मैं तो मोल महँगी लई लिया सतै।
साध संगत बिना भाव नहीं उपजे,

भाव बिना भक्ति नहीं होय तेरी।
कहे रविदास एक बिनती हरी स्यो,
पैज राखो राजा राम मोरी।

भारत वर्ष के इतिहास में मध्यकालीन युग में लोगों की मुसीबतें ज्यादा थी। देश, प्रान्तों में बंटा हुआ था। मुस्लिमों ने विजय नहीं पाई, लेकिन तबाही मचायी। मंदिर जो रविदास को प्रिय थे,उसी को तोड़ते हुए संत रविदास जी ने देखा था। क्षुद्र को अछूत माना जाता था। मुस्लिम मूर्ति पूजा के विरोधी थे। धर्म परिवर्तन कराया गया। इस युग में पंजाब में गुरु नानक और पूर्व उत्तर मैं कबीर साहब ने नयी परम्पराओं को जन्म दिया।

संत रविदास आध्यात्मिक सूर्य की आकाश गंगा थे। उनका जन्म राजस्थान में हुआ,ऐसी लोक धारणा है, लेकिन,वो पश्चिम भारत में ज्यादा रहे। वो काशी में रहते थे और मोची का काम करते थे। उनका जन्म 1399 ईस्वीं सन् और मृत्यु 1527 में मानी जाती है।

उन्होंने जाति प्रथा,मूर्ति पूजा और क्रिया कांड का विरोध किया था। वो सहिष्णु और सादगी से जीते थे। वो ब्राह्मण नहीं थे,पर शास्त्रार्थ में पंडित को पराजित किया था। चित्तौड़ की रानी मीराबाई उनकी शिष्या बनी थी।

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध

जो तुम गिरिवर तो हम मोरा,
जो तुम चन्द्र तो हम भये है चकोरा।
माधवे तुम न तोरो तो हम नहीं तोरी,
तुम सो तोरी तो किन सो जोरी।

संत रविदास जी अपने गुरु के प्रति अपनी प्रीत का वर्णन करते हैं। वो कहते हैं कि प्रभु,तुम जो पर्वत हो तो मैं मोरा हूँ। मैं आपके प्यार में पागल हूँ। मेरा प्रेम आपके प्रति चन्द्र और चकोर जैसा है। रविदास जी प्रभु को माधव कहकर पुकारते हैं। उनका एक शेर है-

आरजी सो अक्स था इके इल्तफाते दोस्त का,
जिसको नादानी से ऐसे जाबिंदा समझा था मैं।

प्रभु आपने जब आँख घुमा ली, तब पता चला कि ये तो काँटों की सेज है। संत रविदास जी अपने गुरु के प्रति प्रेम व्यक्त करते हुए कहते हैं कि-

"जो तुम दिवरा तो हम बाती,
जो तुम तीरथ तो हम जाती।"

वो कहते हैं कि मैं बाती हूँ और तुम दीया हो। संत रविदास जी आदर्श शिष्य का जीवन कैसा होता है,वो बताते हैं। सच्चे भक्त की पहचान कराते हैं।

"रैदास राती न सोइए,दिवस न करिये स्वाद,
अहिनिसी हरिजी सुमिरिए,छांड़ सकल अपवाद।"

तुम मेरे पास होते हो गोया,जब कोई दूसरा नहीं होता।

"मिटा दे अपनी हस्ती को अगर कुछ मरतबा चाहे कि दाना खाक में मिलकर गुले गुलजार होता है।"

जब बीज मिट्टी में मिल जाता है तब खुद का अस्तित्त्व खो देता है। वो फूल का रूप धारण कर लेता है। आध्यात्मिक मार्ग भी इसी तरह है। रविदास जी कहते हैं कि सच्चा शिष्य रात में सोता नहीं है। शिष्य हमेशा गुरु के साथ जुड़ा हुआ होता है।

"हम अपने जजबा-ए-बेदार को रुसवा नहीं करती,
शबे गम नींद से आँखों का आलूदा नहीं करेती।"

ये संत दर्शन जी महाराज कहते हैं-आशिक अपनी प्रियतमा से नजर नहीं हटाता,वो आँखों को बदनाम नहीं करता।

संत रविदास जी कहते हैं कि-

"ए दिल बेकरार ओ,रो ले,तड़प ले,जाग ले,नींद की फिक्र क्यों,अभी रात मिली है बेसहर।"

वो कहते हैं कि रात-दिन हमें प्रभु को यही करना चाहिए। सब छोड़कर उनका स्मरण करना चाहिए।

आध्यात्मिकता और धर्म

चित सुमिरन करो,नैन अवलोकनो,
श्रवण वाणी सौ जस पूरी राखौ।
मन सो मधुकर करो,चरण हृदय धरौं,
रसना अमृत राम नाम भाखौ।
मेरी प्रीति गोविन्द स्योंजनी घटै,
मैं तो मोल महँगी लई लिया सटै।
साध संगत बिना भाव नहीं उपजै,

भाव बिनो भक्ति नहीं होय तेरी।
कहे रविदास एक बिनती हरी सयों,
पैज राखो राजा राम मोरी।

इसमें संत रविदास आदर्श शिष्य के जीवन का वर्णन कर रहे हैं। यह आध्यात्मिकता का मार्ग है। प्रेममयी बने बिना कुछ मिलता नहीं है। गुरु और शिष्य में प्रेम होना जरूरी है। जिस तरह चरवाहा अपने गौआ-बकरियों को पहचानता है,उसी तरह गुरु अपने शिष्य को,अपने जीवों को इकठ्ठा करके प्रभु के पास ले जाते हैं।

"जन्म मरण दौउ में नाही जन परोपकारी आये,
जिया दान है भक्ति भावन हरि सयों लेन मिलाये।"

शिष्य का जीवन भंवर जैसा होना चाहिए। जैसे भंवर फूल के आस-पास घूमता रहता है,वैसे गुरु के पास शिष्य को आगे-पीछे घूमते रहना चाहिए। शिष्य होना शरणागति है। रविदास जी प्रार्थना करते हैं,कि हमें संगत साधु की मिले। संगत से भाव पैदा होता है। प्रभु को याद करना अपने जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। उनके मुख में प्रभु का ही नाम होता था। अपनी आँखों से प्रभु को ही देखना चाहते थे। संत रविदास और कबीर के गुरु स्वामी रामानंद थे। रविदास जी मांसाहार और नशे के विरोधी थे, जाति भेद का विरोध किया था। कर्म-कांड के विरोधी थे, मद्य और पशु हिंसा के विरोधी थे। वो मेहनत की कमाई से ही जीना चाहते थे।

"जाति-पाति के फेरे में सुलज रह्यो सब लोग,
मानवता को खात है रैदास जाती को रोग।"

संत तुकाराम ने संत रविदासजी को एक साखी में कहा था-

निवृति ज्ञानदेव सोपान चंगाजी,मेरे जी के नामदेव, नागाजन मित्र,नरहरी सोनार,रविदास कबीर सगा मेरे।

सिखों के गुरु नानकदेव जी ने भक्ति काव्य में कहा है कि,-

"रविदास चमारू उस्तुति करे,हर की रीती निमख एक गाई,
पतित जाति उत्तम भया,चारो चरण पये जग गाई,
रविदास हयाये प्रभु अनूप,नानक गोविद रूप।"

गुरुनानक कहते हैं कि,चारों वर्णों के लोग संत रविदास के चरणों में नमन करते हैं,क्योंकि वो ज्ञानी है। मेवाड़ की महारानी भक्त कवियित्री मीराबाई ने गुरु दीक्षा लेकर उनका सम्मान किया था। मीराबाई एक भक्ति काव्य में कहती है कि,-

"मेरा मन लागो गुरु सौ,अब न रहूंगी अटके,
गुरु मिलियो रोहिदास जी,दिन्ही ज्ञान के गुटकी,
रैदास मोहे मिले सदगुरु,दिन्ही सूरत सुरई की,
मीरा के प्रभु ते ही स्वामी,श्री रैदास सतगुरु जी।"

संत रविदास जी भक्ति युग के महान संत थे। गुरु संत रविदास जी के 40 पद "श्री गुरु ग्रन्थ साहेब" में समाविष्ट है। सोलह रागों में अपनी वाणी संत रविदास जी करते थे। रविदास जी कहते हैं कि,-

"रविदास ब्राह्मण मत पुजिये,जो होवे गुण हिन,
पूजिये चरण चंडाल के जो होवे गुण परवीन।"

600 साल पहले मुस्लिम बादशाह ने ईरान में संत रविदास को बुलाया था। ईरान के आबादान शहर में वो गए थे। आबादान के नाम से परे उन्होंने अपनी कल्पना का शहर "बेगमपुरा कैसा होना चाहिए" उसका वर्णन अपनी वाणी में किया है। बेगमपुरा शहर को-

नाउ,दु:ख अन्दोहु नहीं तीही ठाउ,ना तसविस खिराजू न मालू,खउकु न खता,न तरसु जवालु,अब मोहि वतन गई पाई, हाँ खैरी सदा मेरे भाई।।
कायमु,दायमु सदा पाति साही,दोम न सेम एक सौ आहि।।
आबादानु सदा मशहूर,उहाँ गनी बसही मामूर।।
तिह-तिह शैल करही,जिह भावै।।
महरम महन न को अटकावे।।
कवि रविदास खलास चमारा।।
जो हम सहरी सु मितु हमारा।।

2

भक्तिकाव्य धारा

हिंदी साहित्य में सम्वत् 1375 से सम्वत् 1700 तक (14वीं शती से लेकर 16वीं शती तक) का समय भक्ति काल के नाम से जाना जाता है। तीन सौ वर्षों की यह लम्बी धारा मुख्तः दो भागों में प्रवाहित हुई–

1. निर्गुण भक्ति धारा
2. सगुण भक्ति धारा

समय के साथ ये दोनों धाराएँ आगे दो-दो उप-धाराओं में बँट गई।

निर्गुण भक्ति धारा निम्न दो शाखाओं में बँट गई–

- ज्ञानमार्गी शाखा
- प्रेममार्गी शाखा

इसी प्रकार सगुण भक्ति धारा निम्न दो उप-शाखाओं में बँट गई–

- कृष्ण भक्ति शाखा
- रामभक्ति शाखा

भक्तिकाल की प्रवृत्तियाँ

भक्ति काल अपना एक अहम् और महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। आदिकाल के बाद आये इस युग को पूर्व मध्यकाल भी कहा जाता है। जिसकी समयावधि संवत् 1343ई. से संवत् 1643ई. तक की मानी जाती है। यह हिंदी साहित्य(साहित्यिक दो प्रकार के हैं- धार्मिक साहित्य और लौकिक साहित्य)

का श्रेष्ठ युग है। जिसको जॉर्ज ग्रियर्सन ने स्वर्णकाल, श्यामसुन्दर दास ने स्वर्णयुग, आचार्य राम चंद्र शुक्ल ने भक्ति काल एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक जागरण कहा। सम्पूर्ण साहित्य के श्रेष्ठ कवि और उत्तम रचनाएं इसी युग में प्राप्त होती हैं।

दक्षिण में आलवार बंधु नाम से कई प्रख्यात भक्त हुए हैं। इनमें से कई तथाकथित नीची जातियों के भी थे। वे बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे, परंतु अनुभवी थे। आलवारों के पश्चात् दक्षिण में आचार्यों की एक परंपरा चली जिसमें रामानुजाचार्य प्रमुख थे। भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का महत्त्वपूर्ण काल है। यह साहित्य अपने पूर्ववर्ती तथा परवर्ती साहित्य से सर्वथा भिन्न विशिष्ट साहित्य है। साहित्य के इतिहास का वह काल जिसमें संत कवियों ने अपनी अमृतवाणी से जनमानस को सिंचित कर उनके ज्ञान का दीप जलाया और पतनोंमुख समाज में अपनी दिव्यवाणी से नवीन चेतना जागृत कर मानवीय मूल्यों की स्थापना की, भक्तिकाल के नाम से विख्यात डॉ. श्यान्सुन्दर दास ने इस काल के सम्बन्ध में कहा है कि ' जिस युग में कबीर, जायसी, सूर, तुलसी जैसे रस - सिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अंत: करणों से निकलकर देश के कोने-कोने में फैली थी ,उसे साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल कहते हैं। निश्चय ही वह हिंदी साहित्य का स्वर्ण युग है।' इस सन्दर्भ में हिंदी साहित्य के भक्तिकालीन साहित्य की विशेषताओं का वर्णन कर रहे हैं -

1. नाम का महत्त्व–कीर्तन भजन आदि के रूप में भगवान का गुण सभी शाखाओं के कवियों में पाया जाता है। सभी कवियों ने अपने अपने इष्ट देव के नाम का स्मारक किया है।गोस्वामी तुलसीदास तो नाम को राम से भी बड़ा मानते हैं।

तुसलीदास जी कहते हैं - मोर मत बड नाम दुहूँ। जेहि किए जग नित बल बूते।

2. गुरु का महत्त्व–इस काल में गुरु का महत्त्व ईश्वर के समान या उससे बढ़कर बताया गया है। कबीर गुरु को ईश्वर से बड़ा बताते हैं -

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पांये। बलिहारी गुरु अपने गोविन्द दियो बताय।।

3. भक्ति भावना की प्रधानता–सभी कवियों में भक्ति भावना की प्रधानता है। कबीर ने तो यहाँ तक कहा है - हरि भक्ति जाने बिना ,बूढ़ी मुआ संसार। सूर और तुलसी का सम्पूर्ण भक्ति प्रधान है।

4. आडम्बर का विरोध–सभी भक्ति कवियों ने ब्राह्य आडम्बरों का विरोध किया है। कबीर के शब्दों में - जप माला छापा तिलक ,सरे एक एको काम।

5. समन्वय की भावना–भक्ति काल के साहित्य में धार्मिक ,सामाजिक ,दार्शानिक आदि सभी क्षेत्रों में समन्वय की भावना मिलती हैं। तुलसीदास में तो समन्वय की विराट चेष्टा मिलती है। भक्ति ज्ञान दर्शन के साथ भाषा शैली एवं सगुण और निर्गुण में भी तुलसी में समन्वय की चेष्टा की है।

6. अलौकिक साहित्य–इस काल में जितने भी काव्य लिखे गए हैं ,सभी ईश्वरीय हैं। किसी व्यक्ति पर काव्य लिखने का इसमें कोई प्रयास नहीं किया गया है। इस प्रकार, ये सभी रचनाएँ आध्यात्मिक कोटि की हैं।

7. दरबारी साहित्य का त्याग–जायसी के अतिरिक्त अन्य कोई कवि कभी किसी राजाश्रय में नहीं रहा। ए कवि राजाश्रय से मुक्त रहकर स्वतंत्र रचना करते थे।

8. काव्य रूप–इस काल के कृष्णमार्गी तथा ज्ञानमार्गी कवियों ने मुक्तक काव्य की रचना की है। इस के विपरीत प्रेम मार्गी तथा राजमार्गी कवियों ने मुक्तक और प्रबंध दोनों प्रकार के काव्यों में रचना की है। भाषा की विविधता इस काल की विशेष प्रधानता है। इस काल के कवियों ने मुक्तक ,गेय,पद ,दोहा ,चौपाई ,सोरठा आदि विविध छंदों का प्रयोग किया है। शांत रस इस काल का प्रधान रस हैं।

निर्गुण काव्यधारा की प्रमुख काव्य-प्रवृत्तियाँ

1. निर्गुण निराकार ईश्वर में विश्वास
2. लौकिक प्रेम द्वारा अलौकिक/आध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यक्ति
3. धार्मिक रूढ़ियों व सामाजिक कुरीतियों का विरोध
4. जाति प्रथा का विरोध व हिन्दू-मुस्लिम एकता का समर्थन
5. रहस्यवाद का प्रभाव
6. लोक भाषा का प्रयोग।

कृष्णाश्रयी शाखा

कृष्णाश्रयी शाखा का सबसे अधिक प्रचार और प्रसार हुआ है। कृष्णाश्रयी शाखा में भगवान कृष्ण के सौंदर्य-पक्ष की ही प्रधानता रही। कृष्ण का चरित्र

विलक्षण है। उनका ध्यान कृष्ण के मधुर रूप और उनकी लीला माधुरी पर ही केंद्रित रहा। भगवान की महिमा का गान करते हुए कहीं-कहीं प्रसंगवश उनके लोक रक्षक रूप का भी उल्लेख कर दिया है, किन्तु मुख्य विषय गोपी-कृष्ण का प्रेम है। कृष्ण-भक्ति का केन्द्र वृन्दावन था। श्री कृष्ण की लीला-भूमि होने के कारण उनके भक्तों ने भी ब्रज को अपना निवास स्थान बनाया। रसखान के भी वृन्दावन में रहने का उल्लेख मिलता है। अनेक संप्रदायों में उच्च कोटि के कवि हुए हैं। इनमें वल्लभाचार्य के पुष्टि-संप्रदाय के सूरदास जैसे महान् कवि हुए हैं।

वात्सल्य एवंशृंगार रस के शिरोमणि भक्त-कवि सूरदास के पदों का परवर्ती हिन्दी साहित्य पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। इस शाखा के कवियों ने प्रायः मुक्तक काव्य ही लिखा है। श्री कृष्ण का बाल एवं किशोर रूप ही इन कवियों को आकर्षित कर पाया है, इसलिए इनके काव्यों में श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य की ही प्रधानता रही है। लगभग सभी कवि गायक थे, इसलिए कविता और संगीत का अद्‌भुत सुंदर समन्वय इन कवियों की रचनाओं में प्राप्त होता है। गीति-काव्य की, जो परंपरा जयदेव और विद्यापति ने पल्लवित की थी, उसका चरम-विकास इन कवियों द्वारा हुआ है। मानव की साधारण प्रेम-लीलाओं को राधा-कृष्ण की अलौकिक प्रेमलीला द्वारा व्यंजित करके उन्होंने जन-मानस को रस में डूबो दिया। आनंद की एक लहर देश भर में दौड़ गई। कृष्णाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि सूरदास, नंददास, मीराबाई, हितहरिवंश, हरिदास, रसखान, नरोत्तमदास आदि थे। रहीम भी इसी समय हुए।

कृष्ण भक्ति काव्यधारा की प्रमुख विशेषतायें

भारतीय धर्म और संस्कृति के इतिहास में कृष्ण सदैव एक अद्‌भुत व विलक्षण व्यक्तित्त्व माने जाते रहें हैं। हमारी प्राचीन ग्रंथों में यत्र– तत्र कृष्ण का उल्लेख मिलता है जिससे उनके जीवन के विभिन्न रूपों का पता चलता है।

यदि वैदिक व संस्कृत साहित्य के आधार पर देखा जाए तो कृष्ण के तीन रूप सामने आते हैं–

1. बाल व किशोर रूप, 2. क्षत्रिय नरेश, 3. ऋषि व धर्मोपदेशक।

श्रीकृष्ण विभिन्न रूपों में लौकिक और अलौकिक लीलाएं दिखाने वाले अवतारी पुरुष हैं। गीता, महाभारत व विविध पुराणों में उन्हीं के इन विविध रूपों के दर्शन होतें हैं।

कृष्ण महाभारत काल में ही अपने समाज में पूजनीय माने जाते थे। वे समय-समय पर सलाह देकर धर्म और राजनीति का समान रूप से संचालन करते थे। लोगों में उनके प्रति श्रद्धा और आस्था का भाव था। कृष्ण भक्ति काव्य धारा के कवियों ने अपनी कविताओं में राधा– कृष्णा की लीलाओं को प्रमुख विषय बनाकर वृहद काव्य सृजन किया। इस काव्यधारा की प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार हैं–

1. राम और कृष्ण की उपासना

1. समाज में अवतारवाद की भावना के फलस्वरूप राम और कृष्ण दोनों के ही रूपों का पूजन किया गया।
2. दोनों को ही पूर्ण ब्रह्म का प्रतीक मानकर, आदर्श मानव के रूप में प्रस्तुत किया गया।
3. किंतु जहाँ राम मर्यादा पुरषोत्तम के रूप में सामने आते हैं, वही कृष्ण एक सामान्य परिवार में जन्म लेकर सामंती अत्याचारों का विरोध करते हैं। वे जीवन में अधिकार और कर्त्तव्य के सुंदर मेल का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।
4. वे जिस तन्मयता से गोपियों की साथ रास रचाते हैं , उसी तत्परता से राजनीति का संचालन करते हैं या फिर महाभारत के युद्ध भूमि में गीता उपदेश देते हैं।
5. इस प्रकार से राम व कृष्ण ने अपनी अपनी चारित्रिक विशेषताओं द्वारा भक्तों के मानस को आंदोलित किया।

2. राधा-कृष्ण की लीलाएं

कृष्णा–भक्ति काव्य धारा के कवियों ने अपनी कविताओं में राधा–कृष्णा की लीलाओं को प्रमुख विषय बनाया।

श्रीमदभागवत में कृष्ण के लोकरंजक रूप को प्रस्तुत किया गया था। भागवत के कृष्ण स्वंय गोपियों से निर्लिप्त रहते हैं।

गोपियाँ बार– बार प्रार्थना करती है , तभी वे प्रकट होतें हैं जबकि हिन्दी कवियों के कान्हा एक रसिक छैला बनकर गोपियों का दिल जीत लेते हैं।

सूरदास जी ने राधा–कृष्ण के अनेक प्रसंगों का चित्रण ककर उन्हें एक सजीव व्यक्तित्त्व प्रदान किया है।

हिन्दी कवियों ने कृष्ण के चरित्र को नाना रूप रंग प्रदान किये हैं , जो काफी लीलामयी व मधुर जान पड़ते हैं।

3. वात्सल्य रस का चित्रण

पुष्टिमार्ग प्रारंभ हुआ तो बाल कृष्ण की उपासना का ही चलन था। अत – कवियों ने कृष्ण के बाल रूप को पहले पहले चित्रित किया।

यदि वात्सल्य रस का नाम लें तो सबसे पहले सूरदास का नाम आता है, जिन्हें आप इस विषय का विशेषज्ञ कह सकते हैं। उन्होंने कान्हा के बचपन की सूक्ष्म से सूक्ष्म गतिविधियाँ भी ऐसी चित्रित की है, मानो वे स्वयं वहाँ उपस्थित हों।

मैया कबहूँ बढ़ेगी चोटि?
किनी बार मोहिं दूध पियत भई , यह अजहूँ है छोटी।

सूर का वात्सल्य केवल वर्णन मात्र नहीं है। जिन-जिन स्थानों पर वात्सल्य भाव प्रकट हो सकता था , उन सब घटनाओं को आधार बनाकर काव्य रचना की गयी है। माँ यशोदा अपने शिशु को पालने में सुला रही हैं और निंदिया से विनती करती है कि वह जल्दी से उनके लाल की अंखियों में आ जाए।

जसोदा हरी पालनै झुलावै।
हलरावै दुलराय मल्हरावै जोई सोई कछु गावै।
मेरे लाल कौ आउ निंदरिया, काहै मात्र आनि सुलावै।
तू काहे न बेगहि आवे, तो का कान्ह बुलावें।

कृष्णा का शैशव रूप घटने लगता है तो माँ की अभिलाषाएं भी बढ़ने लगती हैं। उसे लगता है कि कब उसका शिशु उसका आँचल पकड़कर डोलेगा। कब, उसे माँ और अपने पिता को पिता कह के पुकारेगा , वह लिखते हैं–

जसुमति मन अभिलाष करै,
कब मेरो लाल घुतरुवनी रेंगै, कब घरनी पग द्वैक भरे,
कब वन्दहिं बाबा बोलौ, कब जननी काही मोहि ररै ,
रब घौं तनक-तनक कछु खैहे, अपने कर सों मुखहिं भरे
कब हसि बात कहेगौ मौ सौं, जा छवि तै दुख दूरि हरै।

सूरदास ने वात्सल्य में संयोग पक्ष के साथ– साथ वियोग का भी सुंदर वर्णन किया है। जब कंस का बुलावा लेकर अक्रूर आते हैं तो कृष्ण व बलराम को मथुरा जाना पड़ता है। इस अवसर पर सूरदास ने वियोग का मर्म्स्पर्शी चित्र

प्रस्तुत किया है। यशोदा बार बार विनती करती हैं कि कोई उनके गोपाल को जाने से रोक ले।

जसोदा बार बार यों भारवै
है ब्रज में हितू हमारौ, चलत गोपालहिं राखै

जब उधौ कान्हा का संदेश लेकर आते हैं, तो माँ यशोदा का हृदय अपने पुत्र के वियोग में रो देता है, वह देवकी को संदेश भिजवाती हैं।

संदेस देवकी सों कहियो।
हों तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो।।
उबटन तेल तातो जल देखत ही भजि जाने
जोई-चोर मांगत सोइ-सोइ देती करम-करम कर न्हाते।
तुम तो टेक जानतिही धै है ताऊ मोहि कहि आवै।
प्रातः उठत मेरे लाड लडैतहि माखन रोटी भावै।

4. शृंगार का वर्णन

कृष्ण भक्त कवियों ने कृष्ण व गोपियों के प्रेम वर्णन के रूप में पूरी स्वछंदता से शृंगार रस का वर्णन किया है। कृष्ण व गोपियों का प्रेम धीरे– धीरे विकसित होता है। कृष्ण , राधा व गोपियों के बीच अक्सर छेड़छाड़ चलती रहती है–

तुम पै कौन दुहावै गैया
इत चितवन उन धार चलावत, यहै सिखायो मैया।
सूर कहा ए हमको जातै छाछहि बेचनहारि।

कवि विद्यापति ने कृष्ण के भक्त-वत्सल रूप को छोड़ करशृंगारिक नायक वाला रूप ही चित्रित किया है।

विद्यापति की राधा भी एक प्रवीण नायिका की तरह कहीं मुग्धा बनाती है , तो कभी कहीं अभिसारिका। विद्यापति के राधा– कृष्ण यौवनावस्था में ही मिलते हैं और उनमे प्यार पनपने लगता है।

प्रेमी नायक , प्रेमिका को पहली बार देखता है तो रमनी के रूप पर मुग्ध हो जाता है।

सजनी भलकाए पेखन न मेल
मेघ-माल सयं तड़ित लता जनि
हिरदय सेक्ष दई गेल।

हे सखी ! मैं तो अच्छी तरह उस सुन्दरी को देख नहीं सका क्योंकि जिस प्रकार बादलों की पंक्ति में एका एक बिजली चमक कर छिप जाती है उसी प्रकार प्रिया के सुंदर शरीर की चमक मेरे हृदय में भाले की तरह उतर गयी और मैं उसकी पीड़ा झेल रहा हूँ।

विद्यापति की राधा अभिसार के लिए निकलती है तो साँप पाँव में लिपट जाता है। वह इसमें भी अपना भला मानती है, कम से कम पाँव में पड़े नूपुरों की आवाज तो बंद हो गयी।

इसी प्राकार विद्यापति वियोग में भी वर्णन करते हैं। कृष्ण के विरह में राधा की आकुलता, विवशता, दैन्य व निराशा आदि का मार्मिक चित्रण हुआ है।

सजनी, के कहक आओव मधाई।
विरह-पयोचि पार किए पाऊव, मझुम नहिं पति आई।
एखत तखन करि दिवस गमाओल, दिवस दिवस करि मासा।
मास-मास करि बरस गमाओल, छोड़ लूँ जीवन आसा।
बरस-बरस कर समय गमाओल, खोल लूं कानुक आसे।
हिमकर-किरन नलिनी जदि जारन, कि कर्ण माधव मासे।

इस प्रकार कृष्ण भक्त कवियों ने प्रेम की सभी अवस्थाओं व भाव-दशाओं का सफलतापूर्वक चित्रण किया है।

5. भक्ति भावना

यदि भक्त– भावना के विषय में बात करें तो कृष्ण भक्त कवियों में सूरदास , कुंमंदास व मीरा का नाम उल्लेखनीय है।

सूरदास जी ने वल्लभाचार्य जी से दीक्षा ग्रहण कर लेने के पूर्व प्रथम रूप में भक्ति– भावना की व्यंजना की है।

नाथ जू अब कै मोहि उबारो
पतित में विख्यात पतित हौं पावन नाम विहारो॥

सूर के भक्ति काव्य में अलौकिकता और लौकिकता , रागात्मकता और बौद्धिकता , माधुर्य और वात्सल्य सब मिलकर एकाकार हो गए हैं।

भगवान कृष्ण के अनन्य भक्ति होने के नाते उनके मन से से सच्चे भाव निकलते हैं। उन्होंने ही भ्रम्रनी परम्परा को नए रूप में प्रस्तुत किया। भक्त– शोरोमणि सूर ने इसमें सगुणोपासना का चित्रण, हृदय की अनुभूति के आधार पर किया है।

अंत में गोपियाँ अपनी आस्था के बल पर निर्गुण की उपासना का खंडन कर देती हैं।

उधौ मन नाहिं भए दस-बीस
एक हुतो सो गयो श्याम संग
को आराधै ईश।

मीराबाई कृष्ण को अपना प्रेमी ही नहीं, अपितु पति के रूप में भी स्मरण करती है। वे मानती है कि वे जन्म– जन्म से ही कृष्ण की प्रेयसी व पत्नी रही है। वे प्रिय के प्रति आत्म– निवेदन व उपालंभ के रूप में प्रणय– वेदना की अभिव्यक्ति करती है।

देखो सईयां हरि मन काठ कियो
आवन कह गयो अजहूं न आयो, करि करि गयो
खान-पान सुध-बुध सब बिसरी कैसे करि मैं जियो
वचन तुम्हार तुमहीं बिसरै, मन मेरों हर लियो
मीरां कहे प्रभु गिरधर नागर, तुम बिन फारत हियो।

भक्ति काव्य के क्षेत्र में मीरा सगुण– निर्गुण श्रद्धा व प्रेम , भक्ति व रहस्यवाद के अन्तर को भरते हुए , माधुर्य भाव को अपनाती है। उन्हें तो अपने सांवरियां का ध्यान कराने में , उनको हृदय की रागिनी सुनाने व उनके सम्मुख नृत्य करने में ही आनंद आता है।

आली रे मेरे नैणां बाण पड़ीं।
चित चढ़ी मेरे माधुरी मुरल उर बिच आन अड़ी।
कब की ठाढ़ी पंछ निहारूं अपने भवन खड़ी।

6. ब्रज भाषा व अन्य भाषाओं का प्रयोग

अनेक कवियों ने नि:संकोच कृष्ण की जन्मभूमि में प्रचलित ब्रज भाषा को ही अपने काव्य में प्रयुक्त किया। सूरदास व नंददास जैसे कवियों ने भाषा के रूप को इतना निखार दिया कि कुछ समय बाद यह समस्त उत्तरी भारत की साहित्यिक भाषा बन गई।

यद्यपि ब्रज भाषा के अतिरिक्त कवियों ने अपनी–अपनी मातृ भाषाओं में कृष्ण काव्य की रचना की। विद्यापति ने मैथिली भाषा में अनेक भाव प्रकट किए।

सप्ति हे कतहु न देखि मधाई
कांप शरीर धीन नहि मानस, अवधि निअर मेल आई
माधव मास तिथि भयो माधव अवधि कहए पिआ गेल।

मीरा ने राजस्थानी भाषा में अपने भाव प्रकट किए।

रमैया बिन नींद न आवै
नींद न आवै विरह सतावै, प्रेम की आंच हुलावै।

रामाश्रयी शाखा

जिन भक्त कवियों ने विष्णु के अवतार के रूप में राम की उपासना को अपना लक्ष्य बनाया वे 'रामाश्रयी शाखा' या 'राम काव्य धारा' के कवि कहलाए। कुछ उल्लेखनीय राम भक्त कवि हैं–रामानंद, अग्रदास, ईश्वर दास, तुलसी दास, नाभादास, केशवदास, नरहरिदास आदि।

राम भक्ति काव्य धारा के सबसे बड़े और प्रतिनिधि कवि हैं तुलसी दास। राम भक्त कवियों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। कम संख्या होने का सबसे बड़ा कारण है तुलसीदास का बरगदमयी व्यक्तित्त्व। यह सवर्णवादी काव्य धारा है इसलिए यह उच्चवर्ण में ज्यादा लोकप्रिय हुआ।

जैन साहित्य में 'विमलसूरि' कृत 'पउम चरिउ', सिद्ध साहित्य में स्वयं–भू कृत 'पउम चरिउ' तथा पुष्पदंत कृत 'महापुराण' में रामकथा का वर्णन है। बांग्लाभाषा में 'कृतिवासी' ने 'रामायण' लिखी। तुलसी से पूर्व के रामभक्त कवियों में विष्णुदास ईश्वरदास (भरतमिलाप, अंगदपैज) आदि प्रमुख है। वाल्मिकी की रामायण ही रामकथा का मूलस्रोत है।

कृष्णभक्ति शाखा के अंतर्गत लीला–पुरुषोत्तम का गान रहा तो रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि तुलसीदास ने मर्यादा–पुरुषोत्तम का ध्यान करना चाहा। इसलिए आपने रामचंद्र को आराध्य माना और 'रामचरित मानस' द्वारा राम–कथा को घर–घर में पहुंचा दिया। तुलसीदास हिंदी साहित्य के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। समन्वयवादी तुलसीदास में लोकनायक के सब गुण मौजूद थे। आपकी पावन और मधुर वाणी ने जनता के तमाम स्तरों को राममय कर दिया। उस समय प्रचलित तमाम भाषाओं और छंदों में आपने रामकथा लिख दी। जन–समाज के उत्थान में आपने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस शाखा में अन्य कोई कवि तुलसीदास के समान उल्लेखनीय नहीं है तथापि अग्रदास, नाभादास तथा प्राण चन्द चौहान भी इस श्रेणी में आते हैं।

रामभक्ति काव्यधारा की प्रमुख काव्य-प्रवत्तियाँ

रामभक्ति शाखा की प्रवृत्तियाँ रामकाव्य धारा का प्रवर्तन वैष्णव संप्रदाय के स्वामी रामानंद से स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि रामकाव्य का आधार संस्कृत साहित्य में उपलब्ध राम-काव्य और नाटक रहें हैं। इस काव्य धारा के अवलोकन से इसकी निम्न विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं :-

राम का स्वरूप – रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में श्री रामानंद के अनुयायी सभी रामभक्त कवि विष्णु के अवतार दशरथ-पुत्र राम के उपासक हैं। अवतारवाद में विश्वास है। उनके राम परब्रह्म स्वरूप हैं। उनमें शील, शक्ति और सौंदर्य का समन्वय है। सौंदर्य में वे त्रिभुवन को लजावन हारे हैं। शक्ति से वे दुष्टों का दमन और भक्तों की रक्षा करते हैं तथा गुणों से संसार को आचार की शिक्षा देते हैं। वे मर्यादा पुरुषोत्तम और लोकरक्षक हैं।

भक्ति का स्वरूप – इनकी भक्ति में सेवक-सेव्य भाव है। वे दास्य भाव से राम की आराधना करते हैं। वे स्वयं को क्षुद्रातिक्षुद्र तथा भगवान को महान बतलाते हैं। तुलसीदास ने लिखा है – सेवक-सेव्य भाव बिन भव न तरिय उरगारि। राम-काव्य में ज्ञान, कर्म और भक्ति की पृथक्-पृथक् महत्ता स्पष्ट करते हुए भक्ति को उत्कृष्ट बताया गया है। तुलसी दास ने भक्ति और ज्ञान में अभेद माना है – भगतहिं ज्ञानहिं नहिं कुछ भेदा। यद्यपि वे ज्ञान को कठिन मार्ग तथा भक्ति को सरल और सहज मार्ग स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त तुलसी की भक्ति का रूप वैधी रहा है ,वह वेदशास्त्र की मर्यादा के अनुकूल है।

लोक-मंगल की भावना – रामभक्ति साहित्य में राम के लोक-रक्षक रूप की स्थापना हुई है। तुलसी के राम मर्यादा पुरुषोत्तम तथा आदर्शों के संस्थापक हैं। इस काव्य धारा में आदर्श पात्रों की सर्जना हुई है। राम आदर्श पुत्र और आदर्श राजा हैं, सीता आदर्श पत्नी हैं तो भरत और लक्ष्मण आदर्श भाई हैं। कौशल्या आदर्श माता है, हनुमान आदर्श सेवक हैं। इस प्रकार रामचरितमानस में तुलसी ने आदर्श गृहस्थ, आदर्श समाज और आदर्श राज्य की कल्पना की है। आदर्श की प्रतिष्ठा से ही तुलसी लोकनायक कवि बन गए हैं और उनका काव्य लोकमंगल की भावना से ओत-प्रोत है।

समन्वय भावना – तुलसी का मानस समन्वय की विराट चेष्टा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में - उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय,

भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय रामचरितमानस में शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है। हम कह सकते हैं कि तुलसी आदि रामभक्त कवियों ने समाज, भक्ति और साहित्य सभी क्षेत्रों में समन्वयवाद का प्रचार किया है। राम भक्त कवियों की भारतीय संस्कृति में पूर्ण आस्था रही। पौराणिकता इनका आधार है और वर्णाश्रम व्यवस्था के पोषक हैं। लोकहित के साथ-साथ इनकी भक्ति स्वांत: सुखाय थी। सामाजिक तत्त्व की प्रधानता रही।

काव्य शैलियाँ – रामकाव्य में काव्य की प्राय: सभी शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। तुलसीदास ने अपने युग की प्राय: सभी काव्य-शैलियों को अपनाया है। वीरगाथाकाल की छप्पय पद्धति, विद्यापति और सूर की गीति पद्धति, गंग आदि भाट कवियों की कवित्त-सवैया पद्धति, जायसी की दोहा पद्धति, सभी का सफलतापूर्वक प्रयोग इनकी रचनाओं में मिलता है। रामायण महानाटक (प्राणचंद चौहान) और हनुमननाटक (हृदयराम) में संवाद पद्धति और केशव की रामचंद्रिका में रीति-पद्धति का अनुसरण है।

रस – रामकाव्य में नव रसों का प्रयोग है। राम का जीवन इतना विस्तृत व विविध है कि उसमें प्राय: सभी रसों की अभिव्यक्ति सहज ही हो जाती है। तुलसी के मानस एवं केशव की रामचंद्रिका में सभी रस देखे जा सकते हैं। रामभक्ति के रसिक संप्रदाय के काव्य में शृंगार रस को प्रमुखता मिली है। मुख्य रस यद्यपि शांत रस ही रहा।

भाषा – रामकाव्य में मुख्यत: अवधी भाषा प्रयुक्त हुई है। किंतु ब्रजभाषा भी इस काव्य का शृंगार बनी है। इन दोनों भाषाओं के प्रवाह में अन्य भाषाओं के भी शब्द आ गए हैं। बुंदेली, भोजपुरी, फारसी तथा अरबी शब्दों के प्रयोग यत्र-तत्र मिलते हैं। रामचरितमानस की अवधी प्रेमकाव्य की अवधी भाषा की अपेक्षा अधिक साहित्यिक है।

छंद – रामकाव्य की रचना अधिकतर दोहा-चौपाई में हुई है। दोहा चौपाई प्रबंधात्मक काव्यों के लिए उत्कृष्ट छंद हैं। इसके अतिरिक्त कुण्डलिया, छप्पय, कवित्त , सोरठा , तोमर ,त्रिभंगी आदि छंदों का प्रयोग हुआ है।

अलंकार – रामभक्त कवि विद्वान पंडित हैं। इन्होंने अलंकारों की उपेक्षा नहीं की। तुलसी के काव्य में अलंकारों का सहज और स्वाभाविक प्रयोग मिलता है। उत्प्रेक्षा, रूपक और उपमा का प्रयोग मानस में अधिक है।

ज्ञानाश्रयी शाखा

इस शाखा के भक्त-कवि निर्गुणवादी थे और नाम की उपासना करते थे। गुरु को वे बहुत सम्मान देते थे और जाति-पाँति के भेदों को अस्वीकार करते थे। वैयक्तिक साधना पर वे बल देते थे। मिथ्या आडंबरों और रूढ़ियों का वे विरोध करते थे। लगभग सब संत अपढ़ थे परंतु अनुभव की दृष्टि से समृद्ध थे। प्राय: सब सत्संगी थे और उनकी भाषा में कई बोलियों का मिश्रण पाया जाता है इसलिए इस भाषा को 'सधुक्कड़ी' कहा गया है। साधारण जनता पर इन संतों की वाणी का जबर्दस्त प्रभाव पड़ा है। इन संतों में प्रमुख कबीरदास थे। अन्य मुख्य संत-कवियों के नाम हैं - नानक, रैदास, दादूदयाल, सुंदरदास तथा मलूकदास।

प्रोफेसर महावीर सरन जैन ने निर्गुण भक्ति के स्वरूप के बारे में प्रश्न उठाए हैं तथा प्रतिपादित किया है कि संतों की निर्गुण भक्ति का अपना स्वरूप है जिसको वेदांत दर्शन के सन्दर्भ में व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। उनके शब्द हैं:-

भक्ति या उपासना के लिए गुणों की सत्ता आवश्यक है। ब्रह्म के सगुण स्वरूप को आधार बनाकर तो भक्ति, उपासना की जा सकती है, किन्तु जो निर्गुण एवं निराकार है उसकी भक्ति किस प्रकार सम्भव है? निर्गुण के गुणों का आख्यान किस प्रकार किया जा सकता है? गुणातीत में गुणों का प्रवाह किस प्रकार माना जा सकता है? जो निरालम्ब है, उसको आलम्बन किस प्रकार बनाया जा सकता है। जो अरूप है, उसके रूप की कल्पना किस प्रकार सम्भव है। जो रागातीत है, उसके प्रति रागों का अर्पण किस प्रकार किया जा सकता है? रूपातीत से मिलने की उत्कंठा का क्या औचित्य हो सकता है। जो नाम से भी अतीत है, उसके नाम का जप किस प्रकार किया जा सकता है।

शास्त्रीय दृष्टि से उपर्युक्त सभी प्रश्न 'निर्गुण-भक्ति' के स्वरूप को ताल ठोंककर चुनौती देते हुए प्रतीत होते हैं। कबीर आदि संतों की दार्शनिक विवेचना करते समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यह मान्यता स्थापित की है कि उन्होंने निराकार ईश्वर के लिए भारतीय वेदान्त का पल्ला पकड़ा है। इस सम्बन्ध में जब हम शांकर अद्वैतवाद एवं संतों की निर्गुण भक्ति के तुलनात्मक पक्षों पर विचार करते हैं तो उपर्युक्त मान्यता की सीमायें स्पष्ट हो जाती हैं-

(क) शांकर अद्वैतवाद में भक्ति को साधन के रूप में स्वीकार किया गया है, किन्तु उसे साध्य नहीं माना गया है। संतों ने (सूफियों ने भी) भक्ति को साध्य माना है।

(ख) शांकर अद्वैतवाद में मुक्ति के प्रत्यक्ष साधन के रूप में 'ज्ञान' को ग्रहण किया गया है। वहाँ मुक्ति के लिए भक्ति का ग्रहण अपरिहार्य नहीं है। वहाँ भक्ति के महत्त्व की सीमा प्रतिपादित है। वहाँ भक्ति का महत्त्व केवल इस दृष्टि से है कि वह अन्त:करण के मालिन्य का प्रक्षालन करने में समर्थ सिद्ध होती है। भक्ति आत्म-साक्षात्कार नहीं करा सकती, वह केवल आत्म-साक्षात्कार के लिए उचित भूमिका का निर्माण कर सकती है। संतों ने अपना चरम लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार या भगवद्-दर्शन माना है तथा भक्ति के ग्रहण को अपरिहार्य रूप में स्वीकार किया है क्योंकि संतों की दृष्टि में भक्ति ही आत्म-साक्षात्कार या भगवद्दर्शन कराती है।

ज्ञानमार्गी काव्यधारा की प्रमुख काव्य-प्रवत्तियाँ

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने निर्गुण संत काव्य धारा को निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा नाम दिया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इसे निर्गुण भक्ति साहित्य कहते हैं। रामकुमार वर्मा केवल संत-काव्य नाम से संबोधित करते हैं। संत शब्द से आशय उस व्यक्ति से है, जिसने सत परम तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया हो। साधारणत: ईश्वर-उन्मुख किसी भी सज्जन को संत कहते हैं, लेकिन वस्तुत: संत वही है जिसने परम सत्य का साक्षात्कार कर लिया और उस निराकार सत्य में सदैव तल्लीन रहता हो। स्पष्टत: संतों ने धर्म अथवा साधना की शास्त्रीय ढ़ंग से व्याख्या या परिभाषा नहीं की है। संत पहले संत थे बाद में कवि। उनके मुख से जो शब्द निकले वे सहज काव्य रूप में प्रकट हुए। आज की चर्चा हम इसी संत काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों (विशेषताओं) को लेकर कर रहें हैं :-संत कवियों ने निर्गुण साधना को अपनाया। अवतारवाद की बात इन कवियों ने नहीं की. लगभग सब संत अपढ़ थे परंतु अनुभव की दृष्टि से समृद्ध थे। प्राय: सब सत्संगी थे और उनकी भाषा में कई बोलियों का मिश्रण पाया जाता है इसलिए इस भाषा को 'सधुक्कड़ी' कहा गया है। साधारण जनता पर इन संतों की वाणी का जबर्दस्त प्रभाव पड़ा है। इन संतों में प्रमुख कबीरदास थे। अन्य मुख्य संत-कवियों के नाम हैं– नानक, रैदास, दादू दयाल, सुंदरदास तथा मलूकदास

क्योंकि निर्गुण साधना का आलम्बन निराकार है, फलस्वरूप वह जन साधारण के लिए सहज ग्राह्य नहीं हो पाती। बहुत से लोगों का मानना है कि निर्गुण ब्रह्म ज्ञान का विषय तो हो सकता है, किंतु भक्ति साधना का नहीं, क्योंकि

साधना तो किसी साकार मूर्त और विशिष्ट के प्रति ही उन्मुख हो सकती है। सामान्य जनता का विश्वास और आचरण भी इसी तर्क की पुष्टि करता दिखाई देता है। ब्रह्म के दो रूप विद्यमान हैं सगुण और निर्गुण। सगुण रूप की अपेक्षा निर्गुण रूप दुर्लभ है, सगुण भगवान सुगम है–

सगुण रूप सुलभ अति,
निर्गुण जानि नहीं कोई,
सुगम अगम नाना चरित,
सुनि-सुनि मन भ्रम होई।

संत मत के अनुसार आत्मा-परमात्मा का अंश है। ज्ञानपूर्ण भक्ति को कबीर राम, सत्यपुरुष, अलख निरंजन, स्वामी और शून्य आदि से पुकारते हैं। निर्गुण की उपासना, मिथ्याडंबर का विरोध, गुरु की महत्ता, जाति-पांति के भेदभाव का विरोध, वैयक्तिक साधना पर जोर, रहस्यवादी प्रवृत्ति, साधारण धर्म का प्रतिपादन, विरह की मार्मिकता, नारी के प्रति दोहरा दृष्टिकोण, भजन, नामस्मरण, संतप्त, उपेक्षित, उत्पीड़ित मानव को परिज्ञान प्रदान करना आदि संत काव्य के मुख्य प्रयोजन हैं।

संत शाखा के (आराध्य) "राम" तो अगम हैं और संसार के कण-कण में विराजते हैं। कबीर के राम इस्लाम के एकेश्वरवादी, एक सत्तावादी खुदा भी नहीं हैं। इस्लाम में खुदा या अल्लाह को समस्त जगत एवं जीवों से भिन्न एवं परम समर्थ माना जाता है। पर कबीर के राम परम समर्थ भले हों, लेकिन समस्त जीवों और जगत से भिन्न तो कदापि नहीं हैं। बल्कि इसके विपरीत वे तो सब में व्याप्त रहने वाले रमता राम हैं।

संत शाखा की साधना ''मानने से नहीं, ''जानने से आरम्भ होती है। कबीर जैसे संत किसी के शिष्य नहीं, रामानन्द जैसे गुरु द्वारा चेताये हुए चेला हैं। उनके लिए राम रूप नहीं है, दशरथी राम नहीं है, उनके राम तो नाम साधना के प्रतीक हैं। उनके राम किसी सम्प्रदाय, जाति या देश की सीमाओं में कैद नहीं है। प्रकृति के कण-कण में, अंग-अंग में रमण करने पर भी जिसे अनंग स्पर्श नहीं कर सकता, वे अलख, अविनाशी, परम तत्त्व ही राम हैं। उनके राम मनुष्य और मनुष्य के बीच किसी भेद-भाव के कारक नहीं हैं। वे तो प्रेम तत्त्व के प्रतीक हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने निर्गुण संत काव्य धारा को निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा नाम दिया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इसे निर्गुण भक्ति साहित्य कहते हैं। रामकुमार वर्मा केवल संत-काव्य नाम से संबोधित करते हैं। संत शब्द से आशय

उस व्यक्ति से है, जिसने सत परम तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया हो। साधारणत: ईश्वर-उन्मुख किसी भी सज्जन को संत कहते हैं, लेकिन वस्तुत: संत वही है जिसने परम सत्य का साक्षात्कार कर लिया और उस निराकार सत्य में सदैव तल्लीन रहता हो। स्पष्टत: संतों ने धर्म अथवा साधना की शास्त्रीय ढ़ंग से व्याख्या या परिभाषा नहीं की है। संत पहले संत थे बाद में कवि। उनके मुख से जो शब्द निकले वे सहज काव्य रूप में प्रकट हुए। आज की चर्चा हम इसी संत काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों (विशेषताओं) को लेकर कर रहें हैं–

निर्गुण ईश्वर – संतों की अनुभूति में ईश्वर निर्गुण, निराकार और विराट है। स्पष्टत: ईश्वर के सगुण रूप का खंडन होता है। कबीर के अनुसार :- दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना।। संतों का ईश्वर घट-घट व्यापी है, जिसके द्वार सभी वर्णों और जातियों के लिए खुले हैं। निर्गुण राम जपहु रे भाई? अविगत की गति लिखी न जाई।

बहुदेववाद या अवतारवाद का विरोध– संतों ने बहु-देववाद तथा अवतारवाद की धारणा का खंडन किया है। इनकी वाणी में एकेश्वरवाद का संदेश है – अक्षय पुरुष इक पेड़ है निरंजन वाकी डार। त्रिदेवा शाखा भये, पात भया संसार।। वस्तुत: संतों का लक्ष्य सगुण और निर्गुण से परे स्व-सत्ता की अनुभूति है। फिर भी सगुण उपासकों की तरह उन्होंने अपने प्रियतम (परम सत्ता) को राम, कृष्ण, गोविन्द, केशव आदि नामों से पुकारा है।

सद्-गुरु का महत्त्व–संत कवियों ने ब्रह्म की प्राप्ति के लिए सद्-गुरु को सर्वोच्च स्थान पर रखा है। राम की कृपा तभी संभव है, जब गुरु की कृपा होती है। कबीर गुरु को गोविंद से भी महत्त्वपूर्ण मानते हुए कहते हैं :- गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय। बलिहारी गुरु आपने जिन गोविंद दियो बताय।।

माया से सावधान रहने का उपदेश – सभी संतों की वाणी में माया से सावधान रहने का उपदेश मिलता है। इन्होंने माया का अस्तित्त्व स्वीकार किया है। इनकी दृष्टि में माया के दो रूप हैं – एक सत्य माया, जो ईश्वर प्राप्ति में सहायक है, दूसरी मिथ्या-माया जो ईश्वर से विमुख रहती है। उनका कहना था - माया महाठगिनी हम जानी। कबीर माया के संबंध में कहते हैं – कबीर माया मोहिनी, मोहे जाँण-सुजांण। भागां ही छूटे नहीं, भरि-भरि मारै बाण।।

गृहस्थी धर्म में बाधक नहीं – प्राय: सभी संत पारिवारिक जीवन व्यतीत करते थे। वे आत्मशुद्धि और व्यक्तिगत साधना पर बल देते थे तथा शुद्ध मानव

धर्म के प्रतिपादक थे। इस प्रकार एक ओर सभी संत भक्ति आंदोलन के उन्नायक थे, वहीं दूसरी ओर वे समाज-सुधारक भी थे।

नारी के प्रति दृष्टिकोण – यद्यपि सभी संतों ने वैवाहिक जीवन जीया। लेकिन फिर भी इनके वचनों में नारी को माया का रूप माना गया है। कनक और कामिनी को वे बंधन स्वरूप मानते हैं। कबीर के वचनों में – नारी की झाई परत, अँधा होत भुजंग। कबिरा तिन की कहा गति नित नारी संग।। किंतु पतिव्रता नारी की मुक्त कंठ से प्रशंसा भी करते हैं। पतिव्रता नारी की तरह साधक की भी अपने प्रिय के प्रति अटूट निष्ठा और अन्यों के प्रति विरक्ति होती है।

रहस्यवाद – इन्होंने ईश्वर को पति रूप में और आत्मा को को पत्नी रूप में चित्रित कर अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना की है, जिसे रहस्यवाद की संज्ञा दी जाती है। संतों ने प्रणय के संयोग और वियोग दोनों ही अवस्थाओं को लिया है। उनके विरह में मीरा के विरह जैसी विरह-वेदना है। कबीर आदि संतों ने विरहिणी आत्मा की विरह-व्यथा की मार्मिक अभिव्यंजना की है।

बाह्य आडम्बरों का विरोध – सभी संत कवियों ने रूढ़ियों, मिथ्या आडम्बरों और अंध-विश्वासों का घोर विरोध किया है। मूर्ति-पूजा, तीर्थ-व्रत, रोजा-नमाज, हवन-यज्ञ और पशु-बलि आदि बाह्य कर्मकांडों, आडम्बरों का उन्होंने डटकर विरोध किया है।

जाति-पाँति के भेद-भाव से मुक्ति – सभी संत कवियों ने मनुष्य को समान माना है और कोई भी भगवत-प्राप्ति कर सकता है। जाति-पाँति पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई, आदि भावनाएँ इसी विचार की पोषक हैं। इस प्रकार संत साहित्य लोक-कल्याणकारी है।

प्रभाव – सिद्धौ और नाथ-पंथ के हठयोग, शंकर के अद्वैतवाद और सूफी-कवियों की प्रेम साधना का प्रभाव संतों की वाणी में दिखाई पड़ता है।

पंथों का उदय – प्राय: सभी संत निम्न जातियों में पैदा हुए। उनके प्रभाव वश उनके पीछे निम्न वर्ण के लोगों ने उनके नाम से पंथ चला लिए, जैसे– कबीर-पंथ, दादू-पंथ आदि।

भजन और नाम स्मरण – संतों की वाणी में नाम स्मरण प्रभु मिलन का सर्वोत्तम मार्ग है।

भाषा-शैली – प्राय: सभी संत अशिक्षित थे। इसलिए बोलचाल की भाषा को ही अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। धर्म-प्रचार हेतु वे भ्रमण करते रहते थे। जिस कारण उनकी भाषा में विभिन्न प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग हुआ। इन्हीं कारणों

से इनकी भाषा सधुक्कड़ी या बेमेल खिचड़ी हो गई, जिसमें अवधी, ब्रजभाषा, खड़ी बोली, पूर्वी-हिंदी, फारसी, अरबी, संस्कृत, राजस्थानी और पंजाबी भाषाओं का मेल है। साथ ही प्रतीकों और उलटबासियों की शैलियों का प्रयोग बहुतायत हुआ, जिससे भाषा में दुरुहता बढ़ी। संत काव्य मुक्तक रूप में ही अधिक प्राप्त होता है। संतों के शब्द गीतिकाव्य के सभी तत्त्वों- भावात्मकता, संगीतात्मकता, संक्षिप्तता, वैयक्तिकता आदि से युक्त हैं। उपदेशात्मक पदों में माधुर्य के स्थान पर बौद्धिकता अवश्य है। इन्होंने साखी, दोहा और चौपाई शैली का प्रयोग किया है।

छंद – संतों ने अधिकतर सधुक्कड़ी छंद का प्रयोग किया है। इनमें साखी और सबद प्रमुख हैं। साखी दोहा छंद है जबकि सबद पदों का वाचक है। संतों के सबद राग-रागिनियों में गाए जा सकते हैं। कबीर ने इनके अलावा रमैनी का भी प्रयोग किया है, जिसमें सात चौपाइयों के बाद एक दोहा आता है। इसके अतिरिक्त चौपाई, कवित्त, सवैया, सार, वसंत आदि छंदों का भी प्रयोग दिखाई पड़ता है।

अलंकार – संतों की वाणी सहज है। वह कोई साहित्यिक चेष्टा का परिणाम नहीं है। फिर भी उसमें स्वतः अलंकार-योजना हो गई है। उपमा, रूपक संतों के प्रिय अलंकार हैं। इसके अतिरिक्त विशेषोक्ति, विरोधाभास, अनुप्रास, यमक आदि का भी प्रयोग इनकी वाणी में मिल जाता है। उदाहरणार्थ – पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जात। देखत ही छिप जाएगा ज्यों तारा परभात।। (उपमा) नैनन की करि कोठरी पुतली पलंग विछाय। पलकों की चिक डारिकै पिय को लिया रिझाय।। (रूपक)

रस – संत काव्य में भक्तिपरक उक्तियों में मुख्यतः शांत रस का प्रयोग हुआ है। ईश्वर भक्ति एवं संसार-विमुखता का भाव होने के कारण निर्वेद स्थायीभाव है। रहस्यवाद के अंतर्गत शृंगार-रस का चित्रण है, जिसमें संयोग की अपेक्षा वियोग-पक्ष अधिक प्रबल है। विरही को कहीं भी सुख नहीं – कबीर बिछड्या राम सूँ। ना सुख धूप न छाँह। जहां कहीं ईश्वर की विशालता का वर्णन है, वहाँ अद्‌भुत रस है, सुंदरदास ने स्त्री के शरीर का वीभत्स चित्रण किया है।

प्रेमाश्रयी शाखा

मुसलमान्द सूफी कवियों की इस समय की काव्य-धारा को प्रेममार्गी माना गया है क्योंकि प्रेम से ईश्वर प्राप्त होते हैं ऐसी उनकी मान्यता थी। ईश्वर

की तरह प्रेम भी सर्वव्यापी तत्त्व है और ईश्वर का जीव के साथ प्रेम का ही संबंध हो सकता है, यह उनकी रचनाओं का मूल तत्त्व है। उन्होंने प्रेमगाथाएं लिखी हैं। ये प्रेमगाथाएं फारसी की मसनवियों की शैली पर रची गई हैं। इन गाथाओं की भाषा अवधी है और इनमें दोहा-चौपाई छंदों का प्रयोग हुआ है। मुसलमान होते हुए भी उन्होंने हिंदू-जीवन से संबंधित कथाएं लिखी हैं। खंडन-मंडन में न पड़कर इन फकीर कवियों ने भौतिक प्रेम के माध्यम से ईश्वरीय प्रेम का वर्णन किया है। ईश्वर को माशूक माना गया है और प्राय: प्रत्येक गाथा में कोई राजकुमार किसी राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए नानाविध कष्टों का सामना करता है, विविध कसौटियों से पार होता है और तब जाकर माशूक को प्राप्त कर सकता है। इन कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी प्रमुख हैं। आपका 'पद्मावत' महाकाव्य इस शैली की सर्वश्रेष्ठ रचना है। अन्य कवियों में प्रमुख हैं - मंझन, कुतुबन और उसमान।

प्रेम-मार्गी काव्य की प्रवृत्तियाँ

प्रेम-मार्गी या प्रेमाश्रयी शाखा के कवियों ने सर्वव्यापक परमात्मा को पाने के लिए प्रेम को साधन माना है। इस शाखा के प्राय: सभी कवि सूफी साधक थे। इसी लिए इसे सूफी साहित्य की संज्ञा भी दी जाती है। सूफी साधना मूल रूप से ईरान की देन है। सूफी शब्द की व्युत्पत्ति सूफ शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है फूस। यह शब्द उन संतों के लिए प्रयुक्त होता था, जो फूस(टाट) से बने वस्त्र पहनते थे और एक तरह से वैरागी का जीवन जीते थे।सूफी परमात्मा को प्रेम का स्वरूप मानते हैं और उसे प्रेम द्वारा पाने की बात कहते हैं। प्रेम की पीर इस साधना का सबसे बड़ा सम्बल है। इन कवियों ने लोक -प्रचलित प्रेमाख्यान चुनकर उन्हें इस प्रकार से काव्य-रूप दिया कि लोग प्रेम के महत्त्व को पहचाने और प्रभु -प्रेम में लीन हों।

सूफी फकीरों ने हिंदू साधुओं के रहन सहन, रंग-ढ़ंग, भाषा और विचार-शैली को अपना कर अपने हृदय की उदारता का परिचय दिया। अपनी स्नेहासिक्त प्रेम माधुरी युक्त वाणी से भारतीय जीवन की गहराई को छुआ। आतंकित और पीड़ित जनता के घावों को मरहम लगाने का कार्य करके उन्होंने हिंदू-यवन के भेद-भाव को दूर करने में योग दिया।

इस काव्य की अन्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

इस धारा के काव्य फारसी की मसनवी शैली में लिखे गए हैं , जिनमें मुहम्मद साहब की स्तुति, तत्कालीन बादशाह की प्रशंसा और गुरु परम्परा का परिचय दिया जाता है। भारतीय शैली की तरह ये सर्गबद्ध या कांडबद्ध नहीं हैं।

इन्होंने अपनी कथाओं का आधार हिंदू जन-जीवन में प्रचलित प्रेम-कहानियों को बनाया। इनमें हिंदू घरों का बहुत ही स्वाभाविक व वास्तविक चित्रण मिलता है।

लौकिक-प्रेम कथाओं द्वारा ही अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति होने के कारण इन कवियों में रहस्यवाद की भावना आ गई है। इनका रहस्यवाद सरस और भावनात्मक है। इन्होंने आत्मा को पुरुष और परमात्मा को नारी के रूप में चित्रित किया है। साधक के मार्ग की कठिनाइयों को नायक के मार्ग की कठिनाइयों के रूप में चित्रित किया गया है। सूफी शैतान को आत्मा-परमात्मा के मिलन में बाधक समझते हैं और इस शैतान रूपी बाधा को सच्चा गुरु ही दूर कर सकता है। गुरु की सहायता लेकर साधना-मार्ग पर आरूढ़ होकर ईश्वर तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। सूफी मत के अनुसार ईश्वर एक है, आत्मा (बंदा) उसी का अंश है। वह ईश्वर प्राप्ति में संलग्न रहता है। जब तक वह ईश्वर-मिलन नहीं कर लेता, उसकी विरह-वेदना का मार्मिक चित्रण इन काव्यों में मिलता है।

प्रेम-चित्रण में इन्होंने भारतीय और फारसी दोनों शैलियों को अपनाया। हिंदी काव्यधारा के प्रभाववश उन्हें महाकाव्य पद्धति के अनुसार लिखा गया। पद्मावत में ग्रीष्म-वर्णन, नगर-वर्णन, समुद्र-वर्णन, विरह-वर्णन, युद्ध-वर्णन आदि भारतीय महाकाव्य शैली में लिखे गए हैं। मसनवी काव्य में जिस प्रकार पाँच-सात छंदों के बाद विराम आता है, यहाँ कुछ चौपाइयों के बाद दोहा रखा गया है। मसनवी काव्यों में प्रेमिकाओं द्वारा आध्यात्मिक -प्रेम की व्यंजना होती है, यहाँ भी ऐसा ही हुआ है। इन प्रेम गाथाओं में नायक को नायिका की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील दिखाया गया है , यह भी फारसी साहित्य का प्रभाव है। साथ ही नागमति तथा पद्मावती जैसी नायिकाओं के प्रेम चित्रण द्वारा भारतीय-पद्धति के प्रति भी आस्था प्रकट की गई है। इस प्रकार सूफी प्रेमाख्यानों में भारतीय तथा ईरानी काव्य-धाराओं का संगम हुआ है।

यद्यपि कवियों का ज्ञान स्वाध्याय द्वारा अर्जित न होकर, सुना-सुनाया अधिक है। तत्कालीन प्रचलित दार्शनिक सिद्धांतों को स्थूल रूप में ही इन्होंने

अपनाया है। इस प्रकार इनके साहित्य में न तो भारतीय-दर्शन के सूक्ष्म सिद्धांतों का प्रवेश हो पाया है और न ही पूरी तरह सूफी-दर्शन के सिद्धांतों का। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उन्होंने मूलत: सूफी मत को अपनाया। इन्होंने कबीर आदि निर्गुण संतों की भांति खंडन-मंडन की प्रवृत्ति को नहीं अपनाया।

सूफी कवियों का मुख्य केंद्र अवध था। इसलिए अवधी भाषा इनके काव्य की सहज भाषा थी। नूरमुह्मद ने ब्रजभाषा का भी प्रयोग किया। अरबी और फारसी के शब्द भी इनके काव्यों में बहुधा प्रयुक्त होते हैं। जायसी की अवधी में ठेठ और स्वाभाविक अवधी का रूप मिलता है।

इन कवियों को अपनी कथाओं में जहाँ कहीं दिव्य, अलौकिक अनुभूतियों को व्यक्त करने का अवसर मिला, उसको उन्होंने समासोक्ति और अन्योक्ति के माध्यम से पूर्ण किया। इसी कारण अनेक आलोचक इन्हें प्रतीकात्मक काव्य मानते हैं। इनकी अधिकांश रचनाओं में दोहा-चौपाई शैली का प्रयोग मिलता है। इसी पद्धति को बाद में तुलसी ने मानस में स्थान दिया। इन छंदों के अलावा कहीं-कहीं सोरठा, सवैया और बरवै छंद का प्रयोग भी मिलता है। अलंकारों के चुनाव में समासोक्ति और अन्योक्ति के अलावा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकार भी आए हैं।

प्रेमाख्यान काव्य-प्रधान शैली में रचे गए हैं और प्रबंध काव्य के निर्वाह को निभाने की कोशिश हुई है। प्रेमाख्यान काव्य में कथानक को गति देने के लिए कथानक में रूढ़ियों का प्रयोग किया गया है। ये कथानक रूढ़ियाँ भारतीय साहित्य परम्परा के साथ-साथ ईरानी-साहित्य परम्परा से भी ली गई हैं। जैसे चित्र-दर्शन , शुकसारिका आदि द्वारा नायिका का रूप श्रवण कर नायक का उस पर आसक्त होना, मंदिर में प्रिय युगल का मिलन आदि भारतीय कथानक रूढ़ियाँ हैं तथा प्रेम-व्यापार में परियों और देवों का सहयोग, उड़ने वाली राजकुमारियाँ आदि ईरानी साहित्य की कथानक रूढ़ियाँ हैं।

सभी प्रेमाख्यानों में प्रधानत:शृंगार के दोनों पक्षों संयोग तथा वियोग का चित्रण सुंदर रूप में हुआ है। परन्तु वियोग पक्ष का वर्णन अधिक मार्मिक बन पड़ा है। अन्य रस गौण हैं। पद्मावत में वीररस का समावेश मिलता है।

निर्गुण और सगुण में अंतर

भक्ति की अवधारणा को मुख्य रूप से निर्गुण और सगुण दो वर्गों में बांटा जाता है। निर्गुण और सगुण में अंतर इसका नहीं है कि निर्गुणियों के आराध्य

गुणहीन हैं और सगुण मतवादियों के आराध्य गुणसहित। यहाँ निर्गुण का अर्थ गुणरहित न होकर, गुणातीत है। गुण का अर्थ विशेषता से है। वैसा ईश्वर जिसे कुछ निश्चित विशेषणों से परिभाषित या लक्षित किया जा सके, उसे सगुण ईश्वर कहते हैं। निर्गुण मतवादियों के अनुसार ईश्वर में गुणों का वैविध्य व गुणों की पूर्णता इतनी अधिक है कि उसे किसी विशिष्ट गुण से परिभाषित ही नहीं किया जा सकता। ऐसे ईश्वर को निर्गुण, निराकार, निरंजन, अलख इत्यादि कहकर संबोधित किया गया है।

3

मीराबाई की रचनाओं में लोकजीवन

कृष्णभक्ति शाखा की हिंदी की महान कवियित्री मीराबाई का जन्म संवत् 1573 में जोधपुर में चोकड़ी नामक गाँव में हुआ था। इनका विवाह उदयपुर के महाराणा कुमार भोजराज जी के साथ हुआ था। आरम्भ से ही इनकी कृष्णभक्ति में रुचि थी।

विवाह के थोड़े ही दिन के बाद इनके पति का स्वर्गवास हो गया था। पति के स्वर्गवास के बाद इनकी भक्ति दिन-प्रति-दिन बढ़ती गई। ये मंदिरों में जाकर वहाँ मौजूद कृष्णभक्तों के सामने कृष्ण जी की मूर्ति के आगे नाचती रहती थीं।

मीराबाई (1498-1546)कृष्ण भक्त हैं उनकी कविता कृष्ण भक्ति के रंग में रंग कर और गहर हो जाती है। मीरा बाई ने कृष्ण भक्ति के स्फुट पदों की रचना की है।

मीराबाई का जन्म सन् 1498 ई. में मेड़ता (कुड़की) में दूदा जी के चौथे पुत्र रतन सिंह के घर हुआ। ये बचपन से ही कृष्णभक्ति में रुचि लेने लगी थीं। मीरा का विवाह मेवाड़ के सिसोदिया राज परिवार में हुआ। उदयपुर के महाराजा भोजराज इनके पति थे जो मेवाड़ के महाराणा सांगा के पुत्र थे। विवाह के कुछ समय बाद ही उनके पति का देहान्त हो गया। पति की मृत्यु के बाद उन्हें पति के साथ सती करने का प्रयास किया गया, किन्तु मीरा इसके लिए तैयार नहीं

हुई। मीरा के पति का अंतिम संस्कार चित्ततौड़ में मीरा की अनुपस्थिति में हुआ जिससे मीरा विरक्त हो गयीं और साधु-संतों की संगति में हरिकीर्तन करते हुए अपना समय व्यतीत करने लगीं। पति के परलोकवास के बाद इनकी भक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई। ये मंदिरों में जाकर वहाँ मौजूद कृष्णभक्तों के सामने कृष्ण जी की मूर्ति के आगे नाचती रहती थीं। मीराबाई का कृष्णभक्ति में नाचना और गाना राज परिवार को अच्छा नहीं लगा। उन्होंने कई बार मीराबाई को विष देकर मारने की कोशिश की। घर वालों के इस प्रकार के व्यवहार से परेशान होकर वह द्वारका और वृंदावन गई। वह जहाँ जाती थीं, वहाँ लोगों का सम्मान मिलता था। लोग उन्हे देवी के जैसा प्यार और सम्मान देते थे। मीरा का समय बहुत बड़ी राजनैतिक उथल पुथल का समय रहा है। बाबर का हिंदुस्तान पर हमला और प्रसिद्ध खानवा की लड़ाई जो की बाबर और राणा संग्राम सिंह के बीच हुई, जिसमें राणा सांगा की पराजय हुई और भारत में मुगलों का अधिपत्य शुरू हुआ। इस सभी परिस्तिथियों के बीच मीरा का रहस्यवाद और भक्ति की निर्गुण मिश्रित सगुण पद्धत्ति सवर्मान्य बनी।

द्वारका में संवत् 1603(1547ई.)वो भगवान कृष्ण की मूर्ति में समा गई।

मीराबाई को राजस्थान की राधा का जाता है (बचपन का नाम पेमल या प्रेमल)

जन्म 1498 कुड़की ,पाली(इसके अलावा बाजोली मेड़ता में भी माना जाता ह)

पिता- रतन सिंह राठौड़ (बाजोली के जागीरदार)

दादा - राव दूदा ने लालन-पालन किया मेड़ता नागौर में

मीराबाई का घर से निकाला जाना

मीराबाई का कृष्णभक्ति में नाचना और गाना राज परिवार को नहीं सुहाता था। उन्होंने कई बार मीराबाई को विष देकर मारने की कोशिश की। घर वालों के इस प्रकार के व्यवहार से दु:खी होकर वह द्वारका और वृंदावन गई। वह जहाँ जाती थीं, वहाँ लोगों का सम्मान मिलता था। लोग इनको देवियों के जैसा प्यार और सम्मान देते थे। इसी दौरान उन्होंने तुलसीदास को पत्र लिखा था–

स्वस्ति श्री तुलसी कुलभूषण दूषन- हरन गोसाई।
बारहिं बार प्रनाम करहूँ अब हरहूँ सोक- समुदाई।।

घर के स्वजन हमारे जेते सबन्ह उपाधि बढ़ाई।
साधु- सग अरु भजन करत माहिं देत कलेस महाई॥
मेरे माता- पिता के समहौ, हरिभक्तन्ह सुखदाई।
हमको कहा उचित करिबो है, सो लिखिए समझाई॥
मीराबाई के पत्र का जबाव तुलसी दास ने इस प्रकार दिया–
जाके प्रिय न राम बैदेही।
सो नर तजिए कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेहा॥
नाते सबै राम के मनियत सुह्यद सुसंख्य जहाँ लौ।
अंजन कहा आँखि जो फूटे, बहुतक कहो कहां लौ॥

मीरा द्वारा रचित ग्रंथ

मीराबाई द्वारा रचित चार प्रमुख ग्रंथ निम्नलिखित हैं–

1. बरसी का मायरा
2. गीत गोविंद टीका
3. राग गोविंद
4. राग सोरठ के पद

इसके अलावा मीराबाई के गीतों का संकलन मीराबाई की पदावली नामक ग्रन्थ में किया गया है।

मीराबाई की भक्ति

मीरा की भक्ति में माधुर्य- भाव काफी हद तक पाया जाता था। वह अपने इष्टदेव कृष्ण की भावना प्रियतम या पति के रूप में करती थी। उनका मानना था कि इस संसार में कृष्ण के अलावा कोई पुरुष है ही नहीं। कृष्ण के रूप की दीवानी थी--

बसो मेरे नैनन में नंदलाल।
मोहनी मूरति, साँवरि, सुरति नैना बने विसाल॥
अधर सुधारस मुरली बाजति, उर बैजंती माल।
क्षुद्र घंटिका कटि- तट सोभित, नूपुर शब्द रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई, भक्त बछल गोपाल॥

मीराबाई रैदास को अपना गुरु मानते हुए कहती हैं -

गुरु मिलिया रैदास दीन्ही ज्ञान की गुटकी।

इन्होंने अपने बहुत से पदों की रचना राजस्थानी मिश्रित भाषा में की है। इसके अलावा कुछ विशुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा में भी लिखा है। इन्होंने जन्मजात कवियित्री न होने के बावजूद भक्ति की भावना में कवियित्री के रूप में प्रसिद्धि प्रदान की। मीरा के विरह गीतों में समकालीन कवियों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविकता पाई जाती है। इन्होंने अपने पदों मेंशृंगार और शांत रस का प्रयोग विशेष रूप से किया है।

इनके एक पद --

मन रे पासि हरि के चरन।
सुभग सीतल कमल- कोमल त्रिविध - ज्वाला- हरन।
जो चरन प्रह्लाद परसे इंद्र- पद्वी- हान॥
जिन चरन ध्रुव अटल कींन्हों राखि अपनी सरन।
जिन चरन ब्राह्मांड मेंथ्यों नखसिखौ श्री भरन॥
जिन चरन प्रभु परस लनिहों तरी गौतम धरनि।
जिन चरन धरथो गोबरधन गरब- मधवा- हरन॥
दास मीरा लाल गिरधर आजम तारन तरन।

मीरा के आराध्य

आचार्य शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में पूर्व मध्यकाल या भक्तिकाल का समय संवत् 1375 से संवत् 1700 माना है। इस काल में उनके अनुसार भक्ति की दो प्रमुख शाखाएँ थीं- निर्गुण भक्ति तथा सगुण भक्ति। प्रत्येक शाखा में दो-दो काव्य-धाराएं प्रवाहित हुई-निर्गुण शाखा की संत काव्यधारा और सूफियों से प्रभावित प्रेममार्गी काव्यधारा तथा सगुण शाखा की कृष्णभक्ति काव्य-धारा तथा रामभक्ति काव्य धारा। मीरा का समय सन् 1498-1545 ई0 माना जाता है। स्पष्ट है कि वह अपनी पूर्ववर्ती भक्ति-पद्धतियों से परिचित भी थी और उनके मन तथा काव्य पर थोड़ा-बहुत इन भक्ति-पद्धतियों का प्रभाव भी पड़ा था।

मीरा के जीवन से परिचित होने तथा उनकी रचनाओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने के उपरांत स्पष्ट हो जाता है कि मीरा को किसी भक्ति-सम्प्रदाय या दर्शन ने भक्त-कवयित्री नहीं बनाया। जीवन की विषम परिस्थितियों के फलस्वरूप उनके हृदय में सहज रूप में भक्ति-भावना का अजस्र प्रवाह उमड़ता रहा।

उपास्य का स्वरूप- जहाँ तक उनके उपास्य का संबंध है उसके संबंध में विद्वानों में भले ही मतभेद हो परन्तु उनके प्रारंभिक जीवन का वातावरण और बाद की घटनाएं स्पष्ट संकेत देती हैं कि उनके आराध्य गिरधर गोपाल, नटनागर, कृष्ण थे। जिन पितामह राव दूदाजी की स्नेह छाया और संरक्षण में मातृविहीना मीरा बचपन में पली थीं वह परम वैष्णव भक्त थे, उन्हीं के वैष्णव संस्कारों से मीरा के व्यक्तित्त्व का निर्माण और विकास हुआ, कहा जाता है कि उसी समय उन्हें कृष्ण की एक मूर्ति मिली जिस के रूप-सौंदर्य पर वह मुग्ध हो उठीं। यह भी किंवदन्ती है कि माता ने उसी मूर्ति को उनका नाम बताकर उससे प्रेम करने को कहा था। इस प्रकार के प्रसंगों ने मीरा के बाल-हृदय में कृष्णभक्ति का अंकुर रोप दिया और बाद में जीवन की विषम स्थितियों-पति की अकाल मृत्यु, विधवा का दयनीय जीवन,, राणा और राजकुल के अत्याचार, पुरुष प्रधान सांमती समाज की क्रूरता ने उन्हें कृष्ण-भक्ति के मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। अनाथ, असहाय, बेसहारा, कुटुम्बी जनों द्वारा सतायी जाने वाली मीरा के लिए भक्त वत्सल, दीनबंधु, अशरण को शरण देने वाले भगवान के चरणों में आश्रय खोजने के अतिरिक्त कोई चारा न था, अतः उन्होंने भगवान कृष्ण की शरण ली।

मीरा ने अपने काव्य में अपने आराध्य को कई नामों से पुकारा है-हरि, श्याम, नंदलाल, मोहन, गोपाल, गोविन्द, ब्रजनाथ, गिरधर लाल, मनमोहन, जोगिया या जोगी। पर जो नाम उन्हें सर्वाधिक प्रिय है वह है गिरिधर गोपाल।

म्हारां ही गिरधर गोपाल, दूसरा जां कूया।

उनके आराध्य गिरधर में राम, कृष्ण, निर्गुण भक्त कवियों में ब्रह्म सभी के गुण हैं। वह राम की तरह शक्ति, शील और सौदर्य की त्रिमूर्ति हैं। वह लोकरक्षक दैत्यों का संहार करते हैं, अत्याचारियों से अपने भक्तों की रक्षा करते हैं। वह लोकरंजक होने के नाते विभिन्न लीलाएं-रासलीला, जलक्रीड़ा, चीर हरण, माखन चोरी, गोपियों के साथ वन विहार, ग्वालों के साथ गोचारण आदि करते हैं। उनकी सांवली सूरत तथा मोहिनी मूरत में सत्य, शील और कर्म का समन्वय है-

बसौ मोरे नैनन में नंदलाल
सांवली सूरत मोहिनी मूरत नैना बने विशाल।
अधर सुधारस मुरली राजति, उर बैजंती माल।
शुद्र घंटिका कटि तट सोहत नूपुर सबद रसाल॥

उनके सुन्दर मुख, कमल के समान नेत्र, दीर्घ नेत्रों की बांकी चित्तवन, मीठी वाणी, सम्मोहित करने वाले वंशी के स्वर ने मीरा को इतना मुग्ध कर दिया

है, मन पर ऐसा जादू कर दिया है कि वह उनकी मूर्ति नैनों में बसाकर अपने पलकों को अचल कर लेती हैं, वह उनके हृदय में बस जाते हैं।

भक्ति-पद्धति–जैसा कि ऊपर कह आये हैं **डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल** और शबनम जैसे कुछ विद्वान मीरा को निर्गुण-निराकार ब्रह्म की उपासिका मानते हैं। यह सत्य है कि मीरा के समय में संत मत का पर्याप्त प्रचार और प्रभाव था और मीरा पर भी उसका थोड़ा-सा प्रभाव दिखाई देता है। कुछ पदों में उन्होंने अपने उपास्य को सर्वशक्तिमान, अनिर्वचनीय बताया है, गुरु की महिमा भी स्वीकार की है, अपने उपास्य के साथ एक हो जाने की इच्छा व्यक्त की है, उसके रंग में रंग जाने की बात कही है, कुछ पदों में संत काव्य की शब्दावली-जोगी, जोगिया, निर्गुण का सुरमा, प्रेमहटी का तेल, मनसा की बाती, सुरत-निरत का दिवला, अगम का देस, गगन-मंडल, त्रिकुटभ, निरंजन, अनहद नाद आदि का भी प्रयोग किया है, परन्तु कृष्णभक्त परिवार में जन्म और पालन-पोषण तथा कृष्णभक्त परिवार में विवाह तथा उनके पदों में कृष्ण-भक्ति का स्वर, कृष्ण के गुणानुवाद, अवतार रूप में उनकी लीलाओं का वर्णन- यह सब सिद्ध करता है कि उन्होंने ईश्वर के सगुण स्वरूप श्रीकृष्ण को ही अपना आराध्य बनाकर उनके प्रति अपना अविचल प्रेम, पूर्ण समर्पण-भाव प्रकट किया था। भक्त के लिए जिस तन्मयता एवं समर्पण भाव आवश्यक होते हैं वे मीरा के काव्य में भरपूर मात्रा में विद्यमान हैं। उनका कृष्ण की जन्मभूमि एवं लीला-भूमि ब्रज प्रदेश, मथुरा, वृन्दावन, द्वारिका की यात्रा, वहाँ कुछ दिन तक रहना और द्वारिका में रणछोड़ जी की मूर्ति की आराधना करते हुए प्राण-त्याग ये सब उन्हें पूर्णतः कृष्ण-भक्त सिद्ध करते हैं।

नारद भक्ति-सूत्र में कहा गया है कि भक्ति प्रेम रूपा होती है, फल की कामना के बिना जो प्रभु-सेवा की जाती है वही भक्ति है। उसमें अनन्य भाव, पूर्ण सर्म्पण भावना, आराध्य से एक रूप होने की कामना होती है। मीरा की भक्ति श्रीकृष्ण के सगुण स्वरूप के प्रति माधुर्य भाव, कान्ता भाव की, 'शुद्धा भक्ति' ही है। वह निष्काम भाव की भक्ति है। मीरा न मुक्ति चाहती है, न स्वर्ग। वह तो अपने प्रियतम कृष्ण का स्थायी सानिध्य, उनसे चरम एकात्म चाहती है। उनका कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति का भाव निम्नोक्त पंक्तियों में अंकित है-

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरों न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।।
तात मात भ्रात बंधु अपनों नाहिं कोई।

छाँड़ि दई कुल की कानि कहा करि है मोई।।
अँसुवन जल सींचि सींचि प्रेम बेल बोई।।

सच्चा भक्त अपने उपास्य के प्रति पूर्णत: समार्पित होता है उसके लिए संसार में सब कुछ प्रभु का है, अत: प्रत्येक पदार्थ को प्रभु का मानकर वह उसे प्रभु के चरणों में अर्पित कर देता है।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द
कबीर ने भी यही कहा था–
मेरा मुझ में कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर तेरा
तुझको सौंपते क्या लागे है मोर।

भक्त भगवान पर पूरी तरह निर्भर है, उसका अनुचर है, मीरा यही मानकर कहती हैं–

जो पहिरावै सो ही पहिरूँ, जो दै सो ही खाऊँ।
जहाँ बैठावे तित ही बैठूं, बेचै तो बिक जाऊँ।।

पतिव्रता नारी का, जो भाव पति के प्रति होता है उसी को अपनाते हुए रात-दिन अपने हृदयस्थ प्रियतम का ध्यान करते हुए, उनकी आराधना में लीन रहते हुए वह मानती हैं कि प्रिय उनमें रसा हुआ है और वह स्वयं प्रिय के रंग में रंगी हुई हैं–

रमैया मैं थारे रंग राती
औरों के पिया परदेस भजत हैं, लिखि भेजे पाती
मेरे पिया मेरे हृदय बसत हैं, गूंज करत दिन राती।

सगुण भक्तों की तरह वह ईश्वर के अवतार लेने में विश्वास करती हैं। उनके प्रियतम कृष्ण अविनाशी, अलौकिक परम ब्रह्मा के ही अवतार हैं, अत: वह उनके रूप-सौंदर्य, वेशभूषा पर मुग्ध हैं और वल्लभाचार्य की तरह उनकी लीलाओं का, दिनचर्या का वर्णन करती हैं–

मोर मुकुट पीताम्बरी गल बैजंती माल
गउवन के संग डोलत हो जसुमति को लाल
सितल कदम की छैयां हो मुरली बजाय
जसुमति के दुलरवा हो ग्वालिन सब जाय
बरजहु आपन दुलरवा हो हम सौं अरूझाय
वृन्दावन क्रीड़ा करै गोपिन के साथ।

विरह को प्रेम का तप्त स्वर्ण कहा गया है। सच्चे प्रेम की पहचान प्रिय से बिछुड़ने पर ही होती है। मीरा को पति की मृत्यु के बाद लौकिक विरह झेलना पड़ा और जब उन्होंने अपनी प्रणय-भावना को उदात्त बनाकर लौकिक प्रिय के स्थान पर कृष्ण को अपना सर्वस्व, अपना पति मान लिया तो उनकी विरह भावना अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गयी। मीरा प्रियतम कृष्ण की प्रेम-पीड़ा रात-दिन झेलती हैं, वह अपना दर्द किसी से कह भी नहीं सकतीं, अतः प्रेम दीवानी हो जाती हैं–

हों, री! मैं तो दरद दिवानी
मेरो दरद न जानै कोय
घायल की गति घायल जानै
की जिन लाई होय।

वे शरीर में बाण बिंधे मृग की तरह, पीड़ा की कसक लिए वन-वन भटकती हैं–

दरद की मारी वन वन डोलूँ
वैद मिल्या नहिं कोय।

वह जानती हैं कि इस पीड़ा का उपचार केवल कृष्ण कर सकते हैं 'वैद सांवलिया होय' पर उसकी सेज तो सूल पर है, उससे मिलना बड़ा कठिन है, अतः जब सारा संसार सोता है तो मीरा की पीड़ा उसकी नींद हर लेती है और वह रात-रात भर जागती है–

मैं विरहिन बैठी जागूँ
जगत सब सोवै री अली
अंसुवन माला पोवै
तारा गिन-गिन रैन बिहानी।

जब यह पीड़ा असहाय हो उठती है तो उनका हृदय चीत्कार कर उठता है–

प्यारे दरसन दीज्यौ आइ
तुम बिन रह्यौ न जाइ
आकुल-व्याकुल फिरुँ रैन दिन
विरह कलेजौ खाइ।

सूर की गोपियों की तरह वह भी अपने प्रिय को उलाहना देती हैं विशेष रूप से वर्षा ऋतु में जब बादल गरजते हैं, बिजली चमकती है, पपीहा-मोर बोलते हैं और न कृष्ण आते हैं और न उनका कोई संदेश मिलता है–

मतवारे बादर आये रे
हरि कौ सनेसौ कबहुं न लाए रे
इक कारी अंधियारी बिजरी चमकै
विरहिन अति डर जाए रे।

विरह-वेदना का तीव्र स्वर जितना मीरा के काव्य में मिलता है उतना सूरदास के 'भ्रमरगीत' को छोड़कर अन्यत्र नहीं मिलता। विरह की आग में उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व जल रहा है, विरह का कीट उनके शरीर में घुन की तरह लगा हुआ भीतर-ही-भीतर उसे क्षीण कर रहा है। उनकी पीड़ा की मार्मिक करुणोत्पादक स्थिति का चित्र निम्नलिखित पंक्तियों में साकार हो उठा है–

तेरे कारण वन वन डोलूँ
कर जोगण कौ भेस
अवधि बदी पर भजहुँ न आये
पंडर होइ गया केस।

कदाचित् इसी व्याकुलता के कारण कभी-कभी वह दास्य भक्ति वाले कवियों की तरह विनय करती हैं।

क्यौं तरसावौ अंतरजामी
आन मिलौ परिया कर स्वामी
मीरा दासी जनम जनम की
परी तुम्हारे पाय।

संसार को नश्वर, दु:खों का सागर मानकर तथा ईश्वर को शरणागत वत्सल मानकर उसकी शरण में जाती हैं।

मन रे परसि हरि के चरण
सुभग सीतल कंवल कोमल
त्रिविध ज्वाला हरण
दासि मीरा लाल गिरधर
भगय तारण तरण।

परन्तु कुल मिलाकर मीरा की भक्ति कान्ता भाव की या मधुरा भक्ति ही है। उनकी प्रेमा भक्ति की विशेषताएं हैं–

1. मीरा का दर्द लौकिक परिस्थितियों से पति की अकाल मृत्यु एवं राणा और राजकुल द्वारा दी गयी यातनाओं से उत्पन्न है। इस पीड़ा को वह कृष्ण के प्रति अलौकिक प्रेम में अभिव्यक्त करती हैं। इस प्रेम में डूब कर

उनका हृदय लोक को भूलकर आध्यात्मिक विरह-मिलन के चित्र प्रस्तुत करता है। उनकी भक्ति-भावना सांसारिक दाम्पत्य प्रेम से अलौकिक दाम्पत्य की ऊँचाई तक जाती है।

2. उनकी भक्ति निष्काम है, वह स्वर्ग-मोक्ष नहीं चाहती केवल अपने प्रियतम के दर्शन कर उन्हीं में समा जाना चाहती हैं।
3. उनकी भक्ति किसी भी भक्ति-सम्प्रदाय से जुड़ी नहीं है। वह सहज, स्वाभाविक और उनके निर्मल, दु:खी हृदय की आर्त पुकार है।
4. उनके भक्ति- पदों में विनय भी है, प्रिय के रूप-सौंदर्य और लीलाओं का वर्णन भी है, काल्पनिक मिलन के चित्र भी हैं, परन्तु सबसे अधिक तीव्र स्वर है विरह-वेदना का।
5. उनकी माधुर्य भाव की भक्ति सगुण-निर्गुण भक्ति की समूची परम्परा के सार को आत्मसात् करने वाली है।
6. उसमें स्वानुभूति की ऐसी तीव्रता और सचाई है जिसके कारण हिन्दी भक्ति- काव्य में उनका अनूठा स्थान बन गया है।

मीरा के काव्य में विरह वेदना का स्वरूप

जीवन और दर्शन का अतीव घनिष्ठ संबंध है। दर्शन जीवन का आधार है, तो जीवन दर्शन का प्रधान वर्ण्य विषय है। दोनों की सत्ता एक-दूसरे पर आश्रित है। मनुष्य के जीवन के प्रत्येक स्तर पर दर्शन का प्रभाव होता है। अन्वेषणोपरान्त दर्शन प्रदत्त सत्य जब जीवन को प्राप्त होता है तो जीवन उसे व्यवहार में लाता है और प्रयोगोपरान्त प्रस्तुत होने वाले प्रश्नों को पुन: विचारार्थ दर्शन को सौंप देता है। जीवन को सदा उसके दर्शन रूपी हृत्पिण्ड से पल-पल विचारों की, जीवन के शाश्वत मूल्यों कीशृंखला प्राप्त होती रहती है। इसी में जीवन की सत्ता है, अस्तित्त्व है, उपयोगिता है। सतत क्रियाशील इस प्राणदायिनी प्रणाली के अभाव में न तो दर्शन का अस्तित्त्व रहता है और न जीवन का, अत: जीवन को सचेष्ट, सक्रिय और सजीव बनाये रखने में दर्शन की परम भूमिका होती है।

प्रेम की पीर और विरह वेदना की अमर गायिका मीरा का कृष्ण भक्ति शाखा के साधकों और कवियों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। कृष्ण-प्रेम की कसक आज भी उसके विरह-गीतों के बोलों में कसक-कसक कर सहृदयों, संगीतकारों की हृदय की धड़कनें बढ़ा देती है। वास्तव में 'प्रेम की पीर' और कृष्ण विरह की अनवरत धड़कन का नाम ही मीरा है। 'नरसीजी का मायरा',

'गीत-गोविन्द की टीका', 'मीरानी गरबी', 'रास गोविन्द', राग सोरठ के पद और 'मीरा के पद' आदि मीरा की प्रमुख रचनाएँ मानी जाती हैं। इन रचनाओं के आधार पर मीरा का जीवन और दर्शन का हमें परिचय मिलता है।

मीराबाई दर्शन, विचार और उपासना के प्रत्येक क्षेत्र में भिन्न दिखाई देती है। यद्यपि मीरा की भक्ति किसी विशिष्ट सम्प्रदाय या दार्शनिक मतवाद की सीमा में नहीं बँधती, पर उनकी रचनाओं पर नाथपंथ, संतकाव्य, पुष्टि मार्ग, चैतन्य सम्प्रदाय, भागवत की नवधा भक्ति आदि का आंशिक प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थवाल ने मीरा पर निर्गुण प्रभाव को स्वीकार करते हुए लिखा, "यद्यपि मीराबाई व्यवहारतः सगुणोपासिका थी और कृष्ण की उपासना रणछोड़ के रूप में किया करती थी, फिर भी यह सच है कि उनके कहे जाने वाले पदों में निर्गुण विचारधारा स्पष्ट दिखती है। उन्होंने अपनी प्रेम सम्बन्धी विनय कृष्ण एवं ब्रह्म दोनों के प्रति एक साथ की है।'

डॉ. श्री कृष्णलाल ने मीरा के आराध्य में अनेक विरोधी रूपों की उद्‌भावना करके उसकी उपासना पद्धति में विरोधाभास का एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है, वे लिखते हैं- "मीरा के भगवान उनके प्रियतम गिरधर नागर हैं, जो कबीर, नानक आदि संतकवियों के निर्गुण, निराकार ब्रह्म के बहुत निकट जान पड़ता है।" इसी प्रकार डॉ. हीरा लाल माहेश्वरी कहते हैं, "मीरा के समस्त व्यक्तित्त्व और काव्य में नाथ-पंथी जोगी, सगुण और निर्गुण ब्रह्म से सम्बन्धित अभिव्यक्ति की मिली-जुली त्रिवेणी बह रही है। इसका रोम-रोम इसमें रम गया है।" वस्तुतः मीरा के भक्ति पदों में उनका प्रेमभाव ही प्रमुख है। यह प्रेमभाव इतना प्रबल है कि वह उन सभी साधनाओं को छा लेता है, जिनका प्रभाव मीरा पर लक्षित होता है।

जहाँ तक मीरा के जीवन दर्शन का प्रश्न है, वह श्रीकृष्ण के आस-पास ही घूमता दिखाई देता है। मीरा के एकमात्र इष्ट गिरधर गोपाल ही है, जिन्हें मीरा ने अनेक रूपों में देखा है। उनके अनेक सम्बोधन हैं, यथा- नटवरनागर, नन्दलाल, मोहन, हरि, श्याम, साँवरिया, वंशीवारा, बाँके बिहारी, गोविन्द, प्रभु पिया, प्रियतम आदि। यही नहीं मीरा ने सन्त मत और योग मार्ग की ईश्वरवाची शब्दावली का भी प्रयोग किया है, जैसे-सतगुरु, जोगी, जोगिया, साहब आदि गिरधर लाल के पर्यायवाची ही हैं। किन्तु इन मिश्रित शब्दावलियों से भी भ्रमित नहीं होना चाहिए, क्योंकि मीरा जब कहती है कि 'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई' तब हमें भी यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि के सहज भाव से

श्रीकृष्ण को ही अपना आराध्य मानती हैं और उनका समूचा जीवन-दर्शन श्रीकृष्ण की भक्ति वे प्रेम पर ही आधारित है।

मीरा की भक्ति-पद्धति का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि मीरा स्वतंत्र भक्त थी, वह किसी सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं थी। यही कारण है कि उन पर कहीं निर्गुण धारा का प्रभाव व्यंजित होता है तो कहीं वैष्णवी व मधुरा भक्ति का भाव। कहीं वह वल्लभाचार्य की नवधा भक्ति की अनुगामिनी है तो कहीं चैतन्य महाप्रभु की माधुर्य भक्ति से। यद्यपि भी केन्द्र में श्रीकृष्ण ही है, फिर भी उन पर विविध धाराओं का प्रभाव अवश्य है। इससे उनका जीवन-दर्शन बहु-आयामी फलक पर दृश्यमान होता है। संक्षिप्त विवेचन दृष्टव्य है-

नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव- नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोरखनाथ माने गये हैं। इस सम्प्रदाय की साधना पद्धति को हठयोग नाम प्राप्त हुआ है। हठयोग में 'ह' सूर्य का व 'ठ' 'चन्द्रमा' का प्रतीक है। सूर्य से अभिप्राय प्राणवायु से है और चन्द्रमा का अभिप्राय अपानवायु से। इस प्रकार प्राणवायु से वायु का निरोध ही हठयोग कहलाता है। मीरा के पदों में कुछ शब्द ऐसे ही प्रयुक्त हुए हैं, जो उन्हें हठयोग या नाथ संप्रदाय से जोड़ते हैं, जैसे-

जोगिया जी निसदिन जोऊँ बाट।
पाँव न चाले पंथ दुहेलो, आड़ा औधट घाट।
नगर आइ जोगी रम गया रे, नौ मन प्रीत न पाई।
मैं भोली भोलापन कीन्हों, राख्यो नहीं बिलमाई।

उपर्युक्त पद में जोगिया, औघट, जोगी आदि ऐसे ही शब्द हैं। इसी प्रकार का एक अन्य पद भी अवलोकनीय है-

जोगी मत जा मत जा मत जा, पाँइ परूँ में तेरी चेरी हौं।
प्रेम भगति को पैड़ों ही न्यारौ, हमकूँ गैल बना जा।

\- - -

जल बल गई भस्म की ढेरी, अपने अंग लगा जा।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर, जोत में जोत मिला जा।।

कहीं-कहीं जोगण बनने का विचार रखने वाली मीरा हठयोग साधना का तिरस्कार करके भाग्य की महत्ता का प्रतिपादन करती है, यथा-

तेरो मरम नहीं पायो रे जोगी।
आसण मांड़ि गुफा में बैठो, ध्यान हरी को लगायौ।

गल विच सेली हाथ हाजरियो, अंग भभूति लगायौ।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी, भाग लिख्यौ सो ही पायौ॥

वस्तुतः मीरा पर, जो नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, वह उस पंथ के प्रति श्रद्धाभाव के कारण नहीं, बल्कि भावों की स्वच्छन्द धारा में इधर-उधर बह जाने के कारण ही है। वल्लभ संप्रदाय का प्रभाव- वैष्णव भक्ति में भागवत् में वर्णित 'नवधा भक्ति' को विशेष महत्त्व दिया है। इसमें प्रेमलक्षणा भक्ति की महत्ता दी गई है। इसमें भक्ति के नौ सोपान हैं- श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पदसेवा, अर्चना, वंदन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन। इनमें से अधिकांश मीरा के पदों में दृष्टिगोचर होते हैं-

कीर्तन- माई म्हाँ गोविन्द-गुण गास्याँ।
चरणाम्रति रो नेम सकारे, नित उठि दरसण जास्यां।
हरि मन्दिर मां निरत करास्यां, घूंघर्या छमकास्यां।।

पाद-सेवन- मन के परस हरि के चरण।
सुभग सीतल कँवल कोमल जगत ज्वाला हरण।।
दासी मीरा लाल गिरधर, अगम आगम तरण।।

वंदन- म्हाँ गिरधर आगां नाच्या री।
नाच नाच म्हाँ रसिक रिझावां, प्रीत पुरातन जाँच्या री।।

इस तरह के अनेक पद यह प्रमाणित करते हैं कि मीरा पर वल्लभ संप्रदाय का भी प्रभाव था, परंतु हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि इस प्रकार की भक्ति भी युगीन-प्रभावयुक्त थी। कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति से स्पष्टतः मीरा इस ओर बह गई होंगी।

गौड़ीय संप्रदाय का प्रभाव- मीरा के पदों का यदि सूक्ष्मता से अवलोकन किया जाये तो हमें ज्ञात होगा कि उनका जीवन-दर्शन न तो नाथपंथ (निर्गुण सम्प्रदाय) से प्रभावित था और न ही पुष्टिमार्ग (वल्लभ सम्प्रदाय) से। यदि कुछ पद आये हैं तो वे उस युग के प्रभाव व भक्तिमती मीरा की भावों में तरलता के कारण ही हैं। महाप्रभु चैतन्य के कंठ से भक्ति का जो स्वर निकला, वह मीरा के कंठ में आकर पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। मधुरा भक्ति का उल्लेख पुराणों, उपनिषदों, संहिताओं, सम्मोहन तंत्र आदि में तो मिलता ही है, किंतु इसका पूर्णतः परिपाक 'गौड़ीय सम्प्रदाय' में ही चैतन्य महाप्रभु के नेतृत्व में हुआ था।

'माधुर्य भक्ति' में भक्त अपने भगवान को 'पति रूप' में देखता है। यह गोपी भाव है। गोपी भाव से मीरा ने भी स्वयं को उस गिरधर को हाथों बेच दिया था। मधुर रसशृंगार प्रधान होते हुए भी लौकिकशृंगार से सर्वथा भिन्न होता है। इस रस का विषय अलौकिक होता है और उसके आलंबन स्वयं भगवान होते हैं। 'माधुर्य भक्ति' के तीन प्रमुख अंग होते हैं- 1.रूप वर्णन, 2. विरह वर्णन तथा 3. आत्म-समर्पण। मीरा के पदों में इनका व्यापक वर्णन दिखाई देता है। संक्षिप्त विवेचन दृष्टव्य है-

(क)रूप वर्णन- मीरा ने श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का कई स्थलों पर वर्णन किया है। वे 'साँवली सूरत' और 'मोहनी मूरत' हैं, वे 'पीताम्बर' धारण किए हुए हैं। उनके सिर पर 'मोर मुकुट' है। माथे पर 'केसर का तिलक' है। कानों में 'कुंडल' झलक रहे हैं, उनकी 'नासिका' सुन्दर है। उनके दाँत दाड़िम के समान है, विशाल नेत्र कमल दल के समान हैं। चित्तवन बाँकी है। उनके वक्ष स्थल पर वैजयन्ती माला है। उनका यह सौन्दर्य प्रेम की जंजीर में बाँधने वाला प्रतीत होता है-

बस्याँ म्हारे नैनण माँ नन्दलाल।
मोर मुगुट मकराक्रत कुंडल, अरूण तिलक सौहाँ भाल।
– – –
अधर सुधारस मुरली राज्यां उर बैजंती माल।
मीरा प्रभु संता सुखदायाँ, भगत बछल गोपाल।।

इसी तरह प्रभु श्री कृष्ण की छवि मीरा के आँखों में किस प्रकार बस गई है, पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं-

आली री म्हारे नैणा बाण पड़ी।
चित्त चढ़ी म्हारे माधुरी रस, टिवड़ा अणी गड़ी।।

(ख)विरह वर्णन- माधुर्य भक्ति का दूसरा सोपान 'विरह-व्यंजना' है। मीरा की विरह दशा की उद्दीप्ति तीन भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में होती है, वे हैं-प्रिय प्रवास के कारण, वर्षाभास के कारण व मधुमास के कारण। उदाहरण हैं-

पिय बिनु सुनो छै म्हारो देस।
ऐसो है कोई पीव कूँ मिलावै, तनम न करूँ सब पेस।
– – –
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे, तजि दिया नगर नरेस।।

इस विरह वेदना में मीरा विवश है, पिय की प्रतीक्षा कर रही है तो उसे चैन भी नहीं है। वह सर्वदा मिनल को आतुर है। उसे पपीहे की वाणी बिल्कुल भी अच्छी नहीं लगती, यथा-

पपइया के पिव की बाणी न बोल
सुणि पावेली बिरहणी के, थारो राखेली पाँख मरोड।
चोंच कटाऊँ पपइया रे, ऊपरि कालर लूण।
पिव मेरा मैं पीव की रे, तू पिव कहै सूँ कूण॥

(ग)आत्मसमर्पण- मीरा ने अपने आपको पूर्णतया कृष्ण के प्रति समर्पित कर दिया है, अपने मन को उन्हीं का रस पीने को कहती है व उनके अतिरिक्त दूसरे किसी को स्वीकार नहीं करती, जैसे-

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई॥

इसी प्रकार वह उनके नाम पर मुग्ध होकर उन्हीं के प्रति समर्पित हो गई है, यथा-

पिया तेरे नाम लुभाणी हो।
नाम लेन तिरता सुण्या, जैसे पाहण पाणी हो॥

\- - -

राम नाम रस पीजे, मनुआँ राम नाम रस पीजे॥

इस प्रकार मीरा की भक्ति में माधुर्य भावना प्रतिबिम्बित होती है। मीरा कृष्ण के प्रति पूर्ण समर्पित है। मीरा की माधुर्य भक्ति के विषय में आचार्य शुक्ल ने कहा, "पति प्रेम के रूप में ढले हुए भक्ति रस ने मीरा की संगीत धारा में, जो दिव्य माधुर्य प्रवाहित किया है, वह भावुक हृदयों को और कहीं शायद ही मिले।"

निष्कर्षत: मीरा ने श्रीकृष्ण से प्रेम किया था, फलत: उनका सारा जीवन ही कृष्णमय हो गया था। मीरा के पदों में कतिपय पारिभाषिक शब्दों को आधार बनाकर उनके जीवन पर विभिन्न दर्शनों के मतों के प्रभाव द्वारा की गई आलोचकों ने व्यंजित किया, पर मीरा तो प्रेम दिवानी थी। उसे किसी संप्रदाय विशेष की मान्यताओं के आलोक में ही देखकर मूल्यांकन करना उचित नहीं होगा। मीरा का जीवन ही कृष्ण प्रेम था और दर्शन भी कृष्ण प्रेम, अत: उन्होंने कृष्ण की आराधना कांता भाव या गोपी भाव से की वे अपने आराध्य को भी प्रति मानकर ही पुकारती है, उसके विरह में व्याकुल होकर तड़पती है। इससे

उनके सगुणोपासक होने में कोई संदेह नहीं रहता। संभवत: साधु-संगति के प्रभाव से उनके काव्य में निर्गुण शब्दावली आ गई हों, पर भक्ति में 'मधुरिया भाव' प्रमुख है। सगुण-प्रेम के विरह मिलन के प्रभाव एवं संस्पर्श अत्यधिक प्रभावी हैं। उसकी माधुर्य भावना अनेक स्थलों पर सूर और तुलसी से भी आगे दिखाई देती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेम-विवश मीरा स्वयं भाव-विभोर होकर श्रीकृष्ण के साथ लीलाएँ कर रही हों, अत: यदि प्रभाव की दृष्टि से ही देखा जाय तो स्पष्ट होता है कि उन पर चैतन्य महाप्रभु की दार्शनिक मान्यताओं का सर्वाधिक प्रभाव था साथ ही उनके जीवन-दर्शन पर पड़ा। समग्र रूप से वह स्वयं ही भक्ति की मंदाकिनी बनकर जगत को रस-आप्लावित कर गई। उस रस सृष्टि में उनका भव्य जीवन और भव्य दर्शन हमें डूबने को प्रेरित करता है।

मीरा के काव्य में प्रेमानुभूति की अभिव्यक्ति का स्वरूप

मीराबाई की पदावली का आज तक कोई पाठ ऐसा नहीं मिला है जिसे पूर्णत: प्रामाणिक कहा जा सके, अत: उनकी भाषा के संबंध में मतभेद है। उनके पदों की भाषा राजस्थानों और ब्रज तो है ही उसमें गुजराती, पंजाबी, खड़ी बोली एवं पूर्वी तक का थोड़ा- बहुत सम्मिश्रण पाया जाता है। राजस्थानी से विद्वान शोधकर्त्ता **डॉ. मोतीलाल मेनारिया, डॉ. श्रीकृष्ण लाल** गुजराती के विद्वान **फबरेचन्द मेघाड़ी, डॉ. जगदीश गुप्त** उनकी भाषा राजस्थानी मानते है। डॉ. मेनारिया तथा डॉ. श्रीकृष्ण लाल का मत है कि मीरा ने राजस्थानी तथा ब्रजभाषा दोनों में कविता लिखी- कुछ पद ब्रजभाषा में और कुछ राजस्थानी में। **फबरेचन्द मेघाणी** मीरा की भाषा शुद्ध राजस्धानी बताते हैं, जो लोकप्रियता एवं पदों की कण्ठ- परम्परा के कारण परिवर्तित होती गई। **डॉ. जगदीश गुप्त** डाकोर की प्रति (रचना काल सवंत् 1642) के आधार पर उनकी भाषा राजस्थानी मानते हैं जिसमें ब्रजभाषा के शब्द मिल गये हैं। कुछ विद्वान जैसे **डॉ. रामगोपाल शर्मा'दिनेश'** उनकी काव्य-भाषा ब्रज मानते हैं।

मीरा का जन्म राजस्थान के मेड़ता में हुआ और उनका अधिकांश जीवन भी राजस्थान में बीता। उनकी मातृभाषा राजस्थानी थी। मीरा का काव्य उनकी सघन अनुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति है। उन्होंने कविता लिखने के लिए, कवि का यश पाने के लिए अपने पदों की रचना नहीं की, उनकी काव्य-साधना के पीछे कोई प्रयास नहीं है, उनकी वाणी सहज-स्वाभाविक गति से जल की निर्मल धारा की तरह प्रवाहित होती है। जो भाव जिस समय उमड़ा उसे उसी

क्षण अभिव्यक्त कर दिया और कंठ से निकली वह वाणी ही पद बन गयी। अपनी उपास्य का ध्यान करते हुए अथवा उनकी मूर्ति के सम्मुख उपास्य की मुद्रा में अथवा साधु-संतों के समाज में गाते हुए, जो भी पद उनके मुख से निकले वे ही कविता बन गये। ऐसी मनोदशा में काव्य लिखने वाले कवि की वाणी उसकी मातृभाषा ही हो सकती है, कोई अन्य भाषा नहीं, अतः हम राजस्थानी को ही मीरा का काव्यभाषा मानते हैं। उनके समय में, सम्पूर्ण भक्तिकाल में ही नहीं आगे चलकर रीतिकाल में मध्य देश की काव्यभाषा ब्रज रही। मीरा कृष्णभक्त थी कृष्णभक्त कवियों और उनके काव्य से परिचित थी। कुछ दिन ब्रजप्रदेश में रही भी थी, अतः उनके पदों में ब्रजभाषा का प्रयोग होना भी स्वाभाविक है। उनका कुछ समय गुजरात में भी बीता था, अतः यदि गुजराती के शब्द उनके काव्य में पाये जाते हैं तो आश्चर्य नहीं। परन्तु उनकी जीवन-परिस्थितियाँ, उनका स्वभाव, उनके काव्य की प्रकृति, काव्य-रचना का उद्देश्य देखकर यही लगता है कि उनके काव्य की मूल भाषा राजस्थानी है। मीरा का बल सहज भावों या मार्मिक अनुभूतियों को व्यक्त करने पर था और वह मातृभाषा में ही संभव हो सकता है। उस पर ब्रजभाषा का भी पर्याप्त प्रभाव है, गुजराती, पंजाबी, खड़ी बोली, पूर्वी के शब्द प्रथम तो संख्या में कम हैं, और उनके प्रयोग का कारण उनका सत्संग हो सकता है।

शब्द भंडार की दृष्टि से' उनके पदों में संस्कृत के तत्सम और ग्रामीण शब्द भी हैं–

सुभग शीतल कमल कोमल विविध ज्वाला हरण

तद्भव भी हैं–परसे, सीतल, कूड़ो, कीन्हे, सरण, लीने, पावेली, राखैली, पपइया, थारा।

कहीं-कहीं उर्दू शब्द भी पाये जाते हैं-सिरताज।

मीरा की काव्य-भाषा का सबसे बड़ा गुण है–सहजता, सरलता, माधुर्य एवं प्रवाहपूर्ण होना। इसका एक कारण तो यह है कि उनका सम्पूर्ण काव्य आत्म-निवेदन है, उसमें निजी भावों की, तीव्र अनुभूति की अभिव्यक्ति है। जहाँ सूर के काव्य में कवि और कृष्ण के बीच गोपियाँ हैं, वहाँ मीरा और कृष्ण का संबंध सीधा और प्रत्यक्ष है। दूसरा कारण यह है कि सृजन-प्रक्रिया के पीछे आयास, पांडित्य प्रदर्शन या चमत्कारपूर्ण कथन की प्रवृत्ति नहीं है। तीसरा कारण है लोक-जीवन से उनकी गहरी निकटता, अतः उनकी भाषा अकृत्रिम, आडम्बर से पूर्णतः मुक्त है। उनकी भाषा का स्रोत लोक-वर्णन है। अपने राग और विराग

दोनों को व्यक्त करने के लिए उन्होंने लोक-प्रचलित भाषा का प्रयोग किया है, अत: उनकी भाषा सहज, सादी और मार्मिक है। प्रिय के द्वारा वचन न निभाने और उसके कारण होने वाली पीड़ा का वर्णन बड़ी ही सहज भाषा में किया गया हैं–

आषण कह गया, अजा ण आया, कर म्हारे कोल गया
रवाणा पाणा सुध बुध सब बिसर्‌या, काई म्हारे प्राण जिया।

कृष्ण के प्रति अपना अनन्य प्रेम भी इसी सहज स्वाभाविक भाषा में व्यक्त किया है–

मेरे तो गिरधर गोपाल
दूसरो न कोई
जाके सिर मोर-मुकुट
मेरो पति सोई।

अपने प्रियतम के रूप- सौंदर्य के मन पर पड़ने वाले प्रभाव का वर्णन भी सरल-सहज रूप में किया गया हैं।

आली री! मेरे नैना बान परी
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरति
उर विच आन गाड़ी
कब की ठाड़ी पंथ निहारूँ
अपने भवन खड़ी।

मीरा जानती हैं कि भाषा भावानुरूपिणी होने पर ही सशक्त और संप्रेषणीय होती है, अत: विभिन्न प्रसंगों में उनकी भाषा का तेवर बदलता रहता है। विरह-वेदना का वर्णन करते हुए जिस भाषा का प्रयोग किया गया हैं वह विरहिणी की पीड़ा को साकार कर पाठक के मन में करुणा उत्पन्न करती है, पाठक का हृदय भी दर्द से कराह उठता हैं-

हे री मैं तो दरद दिवाणी
मेरो दरद न जाणै कोय
घायल की गति घायल जाने
की जिन लाई होय।

तीसरी पंक्ति लोकगीत है और सहज ही समझ में आ जाती हैं। इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों में विरहिणी की वेदना को व्यक्त किया गया है और रूपक की योजना के पीछे आयास नहीं लोक-भाषा का प्रयोग हैं–

अजुवन जल सींचि-सींचि प्रेम बेलि बोई
अव तो बेलि फैलि गई, आनन्द फल होई॥

चाहे कृष्ण की लीलाओं का वर्णन हो या फिर चाहे उनका रूप-वर्णन सर्वत्र सरल, सहज भाषा का प्रयोग किया गया है। शब्द-चित्रों (बिम्बों) के माध्यम से दृश्य को साकार बना दिया गया है। सत्य सामान्य है, अनुभूति जानी-पहचानी है पर वह उसे नाटकीय वक्रता या गहरी व्यंजन प्रदान करती हैं- प्रिय मिलन की उत्सुकता, न मिलने पर दीवानगी, या तड़प की धारणाएँ पूर्व प्रचलित हैं पर उनकी भाषा उन्हें अनूठा बना देती हैं–

तुम बिन देखया कल न पड़त है, तलफ तलफ जिय जायी।

जहाँ कोमल, स्निग्ध भावों और प्रणयानुभूति का वर्णन करना होता है वहाँ भसृण, माधुर्य गुण सम्पन्न प्रवाहपूर्ण भाषा का प्रयोग करती हैं और जहाँ पुरुष भावों का वर्णन करना होता हैं वहाँ भाषा का प्रयोग तिरस्कारपूर्ण हो उठता है–

दुरजन जलो ना अंगीठी
अथवा
यह संसार कुबुधि से भांड़ो
अथवा
थारे देस राणा साध नहीं छै लोग वसै सब कूडौ

आत्म- निवेदन, विनय तथा आर्तपुकार में उनकी भाषा का रूप अन्य भक्त कवियों के समान है। यहाँ रूपक अलंकार भी हैं–

यहि विधि भक्ति कैसे होय
मन को मैल हिय तैं न छूटी
दियो तिलक सिर धोय
काम-कूकर लोभ चोरी
बांधि मोह चंडाल
क्रोध कसाई रहत घर में
कैसे मिलैं गोपाल।

इन पंक्तियों को पढ़कर सूरदास का प्रसिद्ध पद याद आ जाता हैं–

अब हौं नाच्यौ बहुत गोपाल
काम क्रोध को पहिरि चोलना कंठ विषय की माल।

मीरा के चित्र स्थिर ही नहीं गतिशील हैं। कृष्ण रूप-राशि का वर्णन यदि स्थिर चित्र का उदाहरण है, तो उनकी गति और मुद्राओं के चित्र गतिशील हैं–

म्हां ठाडी घर पणे मोहन निकल्यां आय
बदन चंद परगासतां, मंद मंद मुस्काय।

अथवा

गहे द्रुम डारि कदम की ठाड़ो मृदु मुस्काय म्हारी ओर हंसो

वर्षा ऋतु के वर्णन में जहाँ एक ओर वर्षा का चाक्षुष एवं ध्वनि बिम्ब मन को मुग्ध करता है तो दूसरी ओर उसके उद्दीपनकारी प्रभाव का भी संकेत देता हैं–

झुकि आई बदरिया सावन की
सावन की मन भावन की
सावन में उमग्यो मेरो मनवा
भनक सुनी हरि आवन की
उमड़ि घुमड़ि चहुँ दिसि सै आयौ
दामिनि दमकि झर लावन की
नन्हीं नन्हीं बूंदन मेघा बरसै
शीतल पवन सुहावन की।

मीरा की भाषा में लोकभाषा के प्रयोग के कारण नाद–सौंदर्य और संगीत का माधुर्य स्वत: आ गया है– नाना ऋतुएँ, तीज–त्यौहार, पर्व–उत्सव, पशु–पक्षी आदि अनूठे ध्वनि–सौंदर्य का विधान करते हैं। दादुर, मोर, पपीहा के स्वर, वर्षा की रिमझिम बूंदे, मेघों का गर्जन, दामिनि का तड़कना सब में ध्वनि–बिम्ब देखे जा सकते हैं।

मीरा ने शब्दों को अपनी भावनाओं के अनुरूप तराशा भी है, उनके प्रचलित रूप से भिन्न दिया है। इससे कविता में संगीत की माधुरी भी आयी हैं, लोकतत्त्व के कारण भाषिक सौंदर्य बढ़ा है तथा अर्थ गंभीर्य भी आया है। इस तराश से शब्द खंडित या विकृत न होकर अधिक काव्यात्मक और सटीक हो गये हैं।

हे माँ बड़ी–बड़ी आंखियन वारो सांवरो मोतन हेरत हंसि कै
भौंह कमान बान बांके लोचन मारत हियरे कसिके॥

उनकी भाषा में यदा–कदा व्यंग्य की पैनी धार भी है विशेषत: दो स्थलों पर। एक तो राणा के दुर्व्यवहार और अत्याचार का उद्घाटन करने के लिए, पुरुष सत्तात्मक सांमती समाज की धूर्तता, निष्ठुरता, छलछद्म, झूठी कुल मर्यादा के

प्रति क्षोम व्यक्त करने के लिए राणा की दुर्बुद्धि को धिकारती हुई वह कहती हैं–

अपणे घर कर परदा कर ले, मैं अबा बौराणी

तथा दूसरे अपने प्रियतम के निष्ठुर व्यवहार पर या विधि की विडम्बना पर–

विध विधणा री प्यारां
दीरघ नेण मिरग कूं देखा कणलण फिरता मारा

अपने प्रियतम जोगिया की खूब खबर लेती हैं-मीरा की रचनाएँ उनके अंतर्मन की व्याकुलता की सहज अभिव्यक्ति हैं, अत: उन्होंने अलंकार- योजना की ओर ध्यान नहीं दिया है। भावों के प्रवाह में या अनुभूति की समानता में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक स्वत: आ गये हैं। इन अलंकारों के प्रयोग ने उनके काव्य को वैसी ही कलात्मकता प्रदान की है जैसे भक्तिकाल के सूर तथा तुलसी के काव्य में मिलती हैं।

मीरा ने लोकपंक्तियों, मुहावरों और दृष्टान्तों का भी प्रयोग कर अपनी भाषा को अर्थ-गरिमा प्रदान की है, लोकचित्त पर चढ़े होने के कारण ये सहज ग्राहय हैं और सामान्य पाठकों को मुग्ध करते हैं–

मुहावरे- साध संत हिरदै बसै
हथलेवा को लाग्यो पाप
अथवा
आपु तो जाय विदेसा छाये
हमको पड़ गयी झोल।
लोकपंक्तियाँ - गंजसू उतरि गधे नहीं चढ़ना
या तो बात न होई
अथवा
नाचन लागी तब घूंघट कैसो
लोक लाज तिनका ज्यूँ तोर्‌यौ।
लोक-प्रचलित उक्तियाँ-
आंबा की डालि कोइल इक बोले,
मेरो चरण असजग केरी हाँसी
अथवा
एकै थाणे रोपिया रे, इक आबो इक बूल
वाकौ रस नीकौ लगै रे, बाकी लागै सूल॥

इस प्रकार मीरा की भाषा सहज, लोकभाषा से संप्रक्त होते हुए भी नाटकीयता, माधुर्य, चित्र-विधान करने के कारण भावों की सूक्ष्मता को उजागर करने में पूर्ण समर्थ है। उसमें प्रवाह है, माधुरी है, सहज, अकुंठ जीवनानुभूति को अभिव्यक्त करने की क्षमता है। अपनी सहजता, प्रवाहमयता, निरलंकृति और लोकचित्त में बसी भाषा का प्रयोग कर उन्होंने राजस्थानी भाषा को काव्य के मानचित्र पर उसी तरह प्रतिष्ठित कर दिया है। जैसे जायसी ने अवधी भाषा को तथा सूरदास ने ब्रजभाषा को।

मीरा का काव्य सौंदर्य

मीराबाई ने पद-शैली में काव्य-रचना की है। पद-शैली गेय होती है। प्रतीक का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है आत्मानुभूति। मीरा का काव्य आत्म-निवेदन का काव्य है, उनकी समस्त रचनाशीलता का प्राण-तत्त्व ही आत्मानुभूति है। आत्मपरकता, तीव्र भावनात्मकता इस आत्मानुभूति के अभिन्न अंग हैं। लयात्मकता प्रगीत का नियामक तत्त्व है। इस लय का संबंध भाव और भाषा दोनों से है। मीरा इस लयात्मक अन्विति के प्रति अत्यंत सावधान है। मीरा ने अपने पितामह के संरक्षण में संगीत की शिक्षा पायी थीं और कृष्ण-भक्ति के पद वह बचपन से ही गाने लगी थीं। उन्हें लोक-संगीत का भी ज्ञान था और प्रायः लोक गीतों का माधुर्य उनके कानों में अमृत की वर्षा करता था। बाद में वह साधु- संतों की मंडली में अपने पद गाया करती थीं जिनमें ताल और वाद्य का संयोग भी होता था, अतः उन्होंने अपने भावों और मनोदशाओं के चित्र संगीत के माध्यम से प्रस्तुत किये हैं। सफल गीतकाव्य के लक्षण हैं- तीव्र भावानु भूति, गायता, संक्षिप्ता, अन्विति। मीरा के प्रत्येक पद में ये गुण मिलते हैं। उनका प्रत्येक पद एक अखंड इकाई है, जिसमें तीव्र अनुभूति है, जो संगीत में लिपट कर पाठक-श्रोता को मंत्रमुग्ध कर देती हैं। मीरा की अनुभूतियों का संबंध अपने प्रियतम कृष्ण की रूपासक्ति, अनुराग, भक्ति और अपने जीवन-संघर्ष से है। मीरा के पदों में प्रथम पंक्ति प्रायः टेक के रूप में होती है जिसकी गाते समय आवृत्ति होती है। इसी पंक्ति में उनका मुख्य वक्तव्य या मूल कथ्न होता है। अन्य पंक्तियों या तो उसके अर्थ का विस्तार करती हैं या उसका अनुगमन। अंतिम पंक्ति में मीरा पूरे पद में विन्यस्त कथ्य या भाव को सचर्म पर ले जाकर उसे अभीष्ट परिणति देती हैं। उनका आत्म-निवेदन अंतिम पंक्ति तक आकर

संकेन्द्रित और प्रत्यक्ष हो जाता है। अपना नामोल्लेख कर वह गिरधर नागर के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाती हैं।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित्त लाई

अथवा

मीरा के प्रभु गिरधर नागर आस बही गुरु सरनन की

अथवा

मीरा के प्रभु गिरधर नागर बाट जोऊँ धारी कद म्हारा खड़ी

पद- शैली का प्रयोग और राग-रागनियों का अनुसरण ही मीरा के काव्य में गीति- तत्त्व के सफल निर्वाह का कारण है। मीरा ने सफलतापूर्वक विभिन्न रागों में पदों की रचना की है। इन रागों में उल्लेखनीय हैं- तिलंग, कान्हरा, गूजरी, काचोर, झिझोट, मालकोस पूरिया कल्याण, खम्हाच, मल्हार, विहाग, जोगिया, होली, श्याम कल्याण। कहीं-कहीं उन्होंने भावों के आग्रह पर इन रागों में परिवर्तन कर उन पर अपनी मौलिक छाप लगा दी है। मल्हार राग को उन्होंने राग अड़ाना में मिलाकर नया रूप दिया है जो 'मीरा की मल्हार' नाम से जाना जाता है। रागों का प्रयोग भावानुकूल तो है ही समय (प्रातः सन्ध्या, रात्रि) का भी ध्यान रखा गया है। यही कारण है कि उनके पद भावों को आंदोलित कर आनन्द की नई-नई तरंग उठाते हैं। पदों की शब्दावली भी राग विशेष के अनुरूप है। उनमें राग और भाव का बेजोड़ संतुलन है। करुणा की भावना व्यक्त करते समय वह जोगिया राम का प्रयोग करती हैं।

जोगिया तू कब रे मिलैगो आइ

इस प्रकार गीत काव्य की दृष्टि से मीरा की रचनाएँ अत्यंत सफल हैं। उनमें गायता है, अनुभूति की तीव्रता है, अन्विति है, संक्षिप्त है। प्रत्येक पद अनुभूति के अखंड संवन की क्षमता रखता है। उनके पदों की भाषा सुर-संगीत के साथ भावना को पाठक तक सहज ही सम्प्रेषित कर देती हैं।

मीरा के पद अन्य भक्त कवियों-सूर, तुलसी, कबीर आदि की तरह चिन्तन के बोझ या अध्यात्म के भार से दबे हुए नहीं हैं। मीरा की पदावली केवल अनुभूति की सहज भूमि पर विचरण करती है, उसमें भावावेश अधिक हैं, अनुभूति की तीव्रता अधिक हैं।

मीरा के काव्य को सरस बनाने का एक कारण है शब्द-शिल्प। उन्होंने शब्दों का प्रयोग इस प्रकार किया है, शब्दों को इस तरह तराशा है कि उनके पदों की संगीत-माधुरी द्विगुणित हो जाती है। वे शब्दों को भावानुकूल बनाने के

लिए उन्हें तोड़ती-मरोड़ती हैं, उन्हें नये ढंग से उच्चरित करती हैं जिससे शब्द की काया, उसका प्रभाव निखर आता है। राजस्थानी और ब्रजभाषा के शब्दों को मूल रूप में प्रयोग न कर वह उनका इस प्रकार प्रयोग करती हैं कि भाषा का तेवर ही बदल जाता है–

नहिं भावै धारो देसलड़ो रंगरुड़ो
धाराँ देसाँ में राणा साँच नहीं है
लोग बसै सब कूड़ो।

आचार्य शुक्ल ने कहा था कि कविता का कार्य अर्थग्रहण कराना नहीं बिम्ब ग्रहण कराना हैं। पाश्चात्य विद्वान **आई0 ए0 रिचर्ड्स** भी काव्य भाषा को रिफरेंशनल न मानकर इमोटिव अर्थात् वह भाषा, जो कवि के भावों का संवहन करने वाली भी हो और पाठकों को भावान्दोलित करने वाली हों। इसके लिए आज के विद्वान आलोचक बिम्ब-सृष्टि पर बल देते हैं, चित्रमय भाषा की बात कहते हैं।

मीरा के काव्य में बिम्ब-योजना अत्यंत मोहक, सटीक और दृश्य को साकार कर देने वाली है। चाहे कृष्ण की अंगों की शोभा हो, या उनकी वेशभूषा अथवा उनकी मुस्कान, तिरछी चित्तवन, मुरली-वादन की मुद्रा सब साकार हो उठते हैं। इस बिम्ब-योजना के पीछे कोई आयास नहीं है, वह तो कृष्ण की रूप-माधुरी में डूबी भक्त की सहज वाणी है। ये बिम्ब दो प्रकार के हैं-स्थूल तथा सूक्ष्म। स्थूल बिम्बों में ऐन्द्रियता है- कहीं चाक्षुष है, कहीं श्रौत, कहीं घ्राण, प्रमुखता है चाक्षुष बिम्बों की। बिम्बों के माध्यम से मीरा अपने उपास्य कृष्ण के बहुविध रूपों, लीलाओं और गुणों का चित्रण करती हैं।

मोहनी मूरति सांवली सूरति नैना बने बिसाल
अधर सुधा रस मुरली राजति, उर बैजंती माल
क्षुद्र घंटिका कटि तल सोहति, नूपुर सबद रसाल

अथवा

बाँको मुकुट काछनी सुन्दर
ऊपर जरद किनारी
गल मुतियन की माल विराजै
कुण्डल की छवि न्यारी
बांकी भौं कजरारे नैना
अलकैं छुट रही कारी

मंद मंद मुरली धुन बाजत
मोही ब्रज की नारी।

सूक्ष्म बिम्बों में भावों की गहरी और स्पष्ट छायाएं दृष्टव्य हैं।

मीरा का काव्य उसके भावों की अभिव्यक्ति है। उसने कविता लिखने के उद्देश्य से पदों की रचना नहीं की है, वे केवल उसकी सघन, तीव्र अनुभूति को अभिव्यक्त करने के माध्यम हैं। उन्होंने रीतिकाल के कवियों की तरह सायास काव्य-रचना नहीं की है, अत: उन्हें काव्य-कला की विशेष चिंता नहीं है। उनके काव्य में अलंकारों का प्रयोग हुआ भी है तो भावों की तीव्रता के कारण वे काव्य-धारा में उसी तरह आ गये हैं जैसे बहती जल धारा में तट के पत्ते-फूल गिरकर बहने लगते हैं, वे सहज रूप में आ गये हैं, जो अलंकार उनके भावों को स्पष्ट करने के लिए आये हैं वे परम्परागत अलंकार-उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक ही है। उनके उपमान भी परम्परागत हैं–

जल बिन कमल चंद बिन रजनी
ऐसे तुम देख्या बिन सजनी

भक्त कवियों की तरह भक्ति में बाधक तत्त्वों की चर्चा करते हुए भी वह परम्परागत उपमानों का ही आश्रय लेती हैं–

मन की मैल हिये तैं न छूटी, दियो तिलक सिर धोय
काम कूकर लोभ डोरी, बांधि मोह चाण्डाल
क्रोध कसाई रहत घट में, कैसे मिले गोपाल
बिलार विषया लालची रे, ताहि सोजन देत।

उत्प्रेक्ष अलंकार में प्रयुक्त उपमान भी परम्परागत हैं–

कुण्डल की झलक-झलक
कपोलन पर छाई
मनो मीन सरवर तजि
मकर मिलन आई

विभावना, अर्थान्तरन्यास अलंकार भी कहीं-कहीं आ गये हैं, शब्दालंकारों पर उनकी दृष्टि नहीं गयी हैं। अनुप्रास और श्लेष यदि आया भी हैं तो वाणी के सहज स्फुरण के रूप में।

उक्ति-चमत्कार उनकी कविता को रमणीय बना देता है, उससे कथन मार्मिक हो उठता है। ये उक्तियाँ जितनी सुन्दर हैं, उतनी ही स्वाभाविक। कही

वचन की वक्रता पाठक के चित्त को चमत्कृत करती है तो कही वचन की स्वाभाविकता मन को मुग्ध करती हैं–

पायो जी मैं तो राम रतन धन पायो
वस्तु अमोलक दी मोरे सतगुरु
किरपा कर अपनायौ
जनम जनम की पूंजी पाई
जग में सभी खोवायो।

ऐसी उक्तियाँ हृदय पर सीधी चोट करती है, मन को द्रवित कर देती हैं।

मीरा सगुण ईश्वर की उपासिका थीं, अतः उनके काव्य में प्रतीकों का प्रयोग नहीं हुआ। जिन पदों में प्रतीकों का संधान किया भी गया है, प्रथम तो उनकी प्रामाणिकता के विषय में संदेह है और यदि वे उनके रचे हुए हैं भी तो प्रतीकों का प्रयोग परिपाटी मात्र हैं–

बरसाने से चली गुजरिया
नन्दगाम को जाना
आगे केसव धेनु चराई
लगे प्रेम के बाना
सागर सूख कमल मुरझाना
हंसा कियो पयाना भौरा रह गए प्रीत के धोखे
फेर मिलन को जाना

यहाँ सागर, कमल, हंस, आदि प्रतीकात्मक प्रयोग परम्परा का पालन मात्र हैं। राग-रागनियों में बंधे मीरा के काव्य में छन्दों के शास्त्रीय नियमों का उल्लंघन नहीं हुआ है। हाँ, उन्होंने छंद के परम्परागत शास्त्रीय बंधनों को पूरी तरह स्वीकार न कर उनका संगीत-माधुरी के लिए स्वच्छंद प्रयोग किया है, उनमें परिवर्तन किया है, उन्हें नवीन रूप दिया है। पदों में टेक और अंतरा का प्रयोग किया हैं- कुछ पदों में छंद की अनुसारिणी टेक का प्रयोग किया है तो कुछ ऐसे पद भी लिखे हैं जिनमें टेक का छंद भिन्न है और शेष पद का छंद भिन्न हैं। जहाँ तक अंतरा का संबंध हैं, मीरा ने कहीं एक ही छंद के पादों की अनेक बार आवृत्ति के पद लिखे हैं और कहीं-कहीं वे छंद की अवहेलना करती हैं। मीरा के छंद राग का चोला ओढ़ कर ही पद बन गये हैं। सार छंद का उन्होंने अनेक बार पद बनाकर प्रयोग किया है। सरसी छंद का प्रयोग भी टेक जोड़कर पद के रूप में किया गया हैं–

तनक हरि चितवौ मेरी ओर
हम चित्तवत तुम चित्तवत् नाहीं
दिल के बड़े कठोर।

कुछ पदों में दो छंदों को मिलाकर राग पूरा किया गया है। कुछ पद ऐसे हैं जिन्हें हम नई छंद-रचना कह सकते हैं।

सारांश यह कि मीरा की पद-रचना का स्वरूप उनकी सघन आत्मानुभूति पर आधारित हैं। इस आत्मानुभूति का विषय है कृष्ण- भक्ति, कृष्ण के प्रति एकनिष्ठ प्रेम, आत्म-निवेदन, अपने सुख-दु:ख की गठरी खोल कर रख देना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने प्रगीत और संगीत का सम्मिश्रण कर अपने पदों की रचना की हैं। नाद, ताल और स्वर के द्वारा रचे गये वातारण में उनके आत्म-निवेदन के ये पद अपनी भावानुभूति, भाषा-प्रयोग एवं अनूठी उक्तियों के कारण विशिष्ट बन गये हैं।

4

कबीर की रचनाओं में लोक जीवन

हिन्दी साहित्य में कबीर का व्यक्तित्त्व क्रांतिकारी है। कवि के रूप में तुलसीदास को छोड़ कर इतना महिमा मण्डित व्यक्तित्त्व कबीर के सिवा अन्य किसी का नहीं है।

जीवन परिचय

संत कबीरदास हिंदी साहित्य के भक्ति काल के इकलौते ऐसे कवि हैं, जो आजीवन समाज और लोगों के बीच व्याप्त आडंबरों पर कुठाराघात करते रहे। वह कर्म प्रधान समाज के पैरोकार थे और इसकी झलक उनकी रचनाओं में साफ झलकती है। लोक कल्याण हेतु ही मानो उनका समस्त जीवन था। कबीर को वास्तव में एक सच्चे विश्व – प्रेमी का अनुभव था। कबीर की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उनकी प्रतिभा में अबाध गति और अदम्य प्रखरता थी। समाज में कबीर को जागरण युग का अग्रदूत कहा जाता है।

जन्म

कबीरदास के जन्म के संबंध में अनेक किंवदन्तियाँ हैं। कबीर पन्थियों की मान्यता है कि कबीर का जन्म काशी में लहरतारा तालाब में उत्पन्न कमल के

मनोहर पुष्प के ऊपर बालक के रूप में हुआ। कुछ लोगों का कहना है कि वे जन्म से मुसलमान थे और युवावस्था में स्वामी रामानंद के प्रभाव से उन्हें हिन्दू धर्म की बातें मालूम हुईं। एक दिन, एक पहर रात रहते ही कबीर पंचगंगा घाट की सीढ़ियों पर गिर पड़े। रामानन्द जी गंगा स्नान करने के लिये सीढ़ियाँ उतर रहे थे कि तभी उनका पैर कबीर के शरीर पर पड़ गया। उनके मुख से तत्काल 'राम-राम' शब्द निकल पड़ा। उसी राम को कबीर ने दीक्षा-मन्त्र मान लिया और रामानन्द जी को अपना गुरु स्वीकार कर लिया। कबीर के ही शब्दों में-

हम कासी में प्रकट भये हैं,
रामानन्द चेताये।

कबीरपंथियों में इनके जन्म के विषय में यह पद्य प्रसिद्ध है-

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी तिथि प्रगट भए॥
घन गरजें दामिनि दमके बूँदे बरसें झर लाग गए।
लहर तलाब में कमल खिले तहँ कबीर भानु प्रगट भए॥

जन्मस्थान

कबीर के जन्मस्थान के संबंध में तीन मत हैं: मगहर, काशी और आजमगढ़ में बेलहरा गाँव।

मगहर के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि कबीर ने अपनी रचना में वहाँ का उल्लेख किया है: 'पहिले दरसन मगहर पायो पुनि कासी बसे आई अर्थात् काशी में रहने से पहले उन्होंने मगहर देखा। मगहर आजकल वाराणसी के निकट ही है और वहाँ कबीर का मकबरा भी है।

कबीर का अधिकांश जीवन काशी में व्यतीत हुआ। वे काशी के जुलाहे के रूप में ही जाने जाते हैं। कई बार कबीरपंथियों का भी यही विश्वास है कि कबीर का जन्म काशी में हुआ। किंतु किसी प्रमाण के अभाव में निश्चयात्मकता अवश्य भंग होती है।

बहुत से लोग आजमगढ़ जिले के बेलहरा गाँव को कबीर साहब का जन्मस्थान मानते हैं।

वे कहते हैं कि 'बेलहरा' ही बदलते-बदलते लहरतारा हो गया। फिर भी पता लगाने पर न तो बेलहरा गाँव का ठीक पता चल पाता है और न यही मालूम हो पाता है कि बेलहरा का लहरतारा कैसे बन गया और वह आजमगढ़ जिले से

काशी के पास कैसे आ गया? वैसे आजमगढ़ जिले में कबीर, उनके पंथ या अनुयायियों का कोई स्मारक नहीं है।

माता-पिता

कबीर के माता- पिता के विषय में भी एक राय निश्चित नहीं है। 'नीमा' और 'नीरु' की कोख से यह अनुपम ज्योति पैदा हुई थी, या लहर तालाब के समीप विधवा ब्राह्मणी की पाप- संतान के रूप में आकर यह पतितपावन हुए थे, ठीक तरह से कहा नहीं जा सकता है। कई मत यह है कि नीमा और नीरु ने केवल इनका पालन- पोषण ही किया था। एक किवदंती के अनुसार कबीर को एक विधवा ब्राह्मणी का पुत्र बताया जाता है, जिसको भूल से रामानंद जी ने पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे दिया था।

एक जगह कबीर ने कहा है :-
'जाति जुलाहा नाम कबीरा
बनि बनि फिरो उदासी।'

कबीर के एक पद से प्रतीत होता है कि वे अपनी माता की मृत्यु से बहुत दु:खी हुए थे। उनके पिता ने उनको बहुत सुख दिया था। वह एक जगह कहते हैं कि उसके पिता बहुत 'गुसाई' थे। ग्रंथ साहब के एक पद से विदित होता है कि कबीर अपने वयनकार्य की उपेक्षा करके हरिनाम के रस में ही लीन रहते थे। उनकी माता को नित्य कोश घड़ा लेकर लीपना पड़ता था। जब से कबीर ने माला ली थी, उसकी माता को कभी सुख नहीं मिला। इस कारण वह बहुत खीज गई थी। इससे यह बात सामने आती है कि उनकी भक्ति एवं संत- संस्कार के कारण उनकी माता को कष्ट था।

बचपन

कबीरदास का लालन-पालन जुलाहा परिवार में हुआ था, इसलिए उनके मत का महत्त्वपूर्ण अंश यदि इस जाति के परंपरागत विश्वासों से प्रभावित रहा हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। यद्यपि 'जुलाहा' शब्द फारसी भाषा का है, तथापि इस जाति की उत्पत्ति के विषय में संस्कृत पुराणों में कुछ-न-कुछ चर्चा मिलती ही है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के ब्रह्म खंड के दसवें अध्याय में बताया गया है कि म्लेच्छ से कुविंदकन्या में 'जोला' या जुलाहा जाति की उत्पत्ति हुई है। अर्थात् म्लेच्छ पिता और कुविंद माता से, जो संतति हुई वही जुलाहा कहलाई।

जुलाहा

जुलाहे मुसलमान है, पर इनसे अन्य मुसलमानों का मौलिक भेद है। सन् 1901 की मनुष्य-गणना के आधार पर रिजली साहब ने 'पीपुल्स ऑफ इंडिया' नामक एक ग्रंथ लिखा था। इस ग्रंथ में उन्होंने तीन मुसलमान जातियों की तुलना की थी। वे तीन हैं: सैयद, पठान और जुलाहे। इनमें पठान तो भारतवर्ष में सर्वत्र फैले हुए हैं पर उनकी संख्या कहीं भी बहुत अधिक नहीं है। जान पड़ता है कि बाहर से आकर वे नाना स्थानों पर अपनी सुविधा के अनुसार बस गए। पर जुलाहे पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में ही पाए जाते हैं। जिन दिनों कबीरदास इस इस जुलाहा-जाति को अलंकृत कर रहे थे उन दिनों, ऐसा जान पड़ता है कि इस जाति ने अभी एकाध पुश्त से ही मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था। कबीरदास की वाणी को समझने के लिए यह निहायत जरूरी है कि हम इस बात की जानकारी प्राप्त कर ले कि उन दिनों इस जाति के बचे-कुचे पुराने संस्कार क्या थे।

उत्तर भारत के वयनजीवियों में कोरी मुख्य हैं। बेन्स जुलाहों को कोरियों की समशील जाति ही मानते हैं। कुछेक पंडितों ने यह भी अनुमान किया है कि मुसलमानी धर्म ग्रहण करने वाले कोरी ही जुलाहे हैं। यह उल्लेख किया जा सकता है कि कबीरदास जहाँ अपने को बार-बार जुलाहा कहते हैं,

(1) जाति जुलाहा मति कौ धीर। हरषि गुन रमै कबीर।

(2) तू ब्राह्मन मैं काशी का जुलाहा।

वहाँ कभी-कभी अपने को कोरी भी कह गए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि यद्यपि कबीरदास के युग में जुलाहों ने मुसलमानी धर्म ग्रहण कर लिया था पर साधारण जनता में तब भी कोरी नाम से परिचित थे।

सबसे पहले लगने वाली बात यह है कि कबीरदास ने अपने को जुलाहा तो कई बार कहा है, पर मुसलमान एक बार भी नहीं कहा। वे बराबर अपने को 'ना-मुसलमान' कहते रहे। आध्यात्मिक पक्ष में नि:संदेह यह बहुत ऊँचा भाव है, पर कबीरदास ने कुछ इस ढंग से अपने को उभय-विशेष बताया है कि कभी-कभी यह संदेह होता है कि वे आध्यात्मिक सत्य के अतिरिक्त एक सामाजिक तथ्य की ओर भी इशारा कर रहे हैं। उन दिनों वयनजीवी नाथ-मतावलंबी गृहस्थ योगियों की जाति सचमुच ही 'ना-हिंदू, ना-मुसलमान' थी। कबीरदास ने कम-से-कम एक पद में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि

हिंदू और हैं, मुसलमान और हैं और योगी और हैं, क्योंकि योगी या जोगी 'गोरख-गोरख करता है, हिंदू 'राम-राम' उच्चारता है और मुसलमान 'खुदा-खुदा' कहा करता है।

शिक्षा

कबीरदास

कबीर बड़े होने लगे। कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे- अपनी अवस्था के बालकों से एकदम भिन्न रहते थे। कबीरदास की खेल में कोई रुचि नहीं थी। मदरसे भेजने लायक साधन पिता-माता के पास नहीं थे। जिसे हर दिन भोजन के लिए ही चिंता रहती हो, उस पिता के मन में कबीर को पढ़ाने का विचार भी न उठा होगा। यही कारण है कि वे किताबी विद्या प्राप्त न कर सके।

मसि कागद छूवो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।

उन्होंने स्वयं ग्रंथ नहीं लिखे, मुँह से बोले और उनके शिष्यों ने उसे लिख लिया।

वैवाहिक जीवन

कबीर का विवाह वनखेड़ी बैरागी की पालिता कन्या 'लोई' के साथ हुआ था। कबीर को कमाल और कमाली नाम की दो संतान भी थी। ग्रंथ साहब के एक 'लोक से विदित होता है कि कबीर का पुत्र कमाल उनके मत का विरोधी था।

बूड़ा बंस कबीर का, उपजा पूत कमाल।
हरि का सिमरन छोड़ि के, घर ले आया माल।

कबीर की पुत्री कमाली का उल्लेख उनकी बानियों में कहीं नहीं मिलता है। कहा जाता है कि कबीर के घर में रात - दिन मुडियों का जमघट रहने से बच्चों को रोटी तक मिलना कठिन हो गया था। इस कारण से कबीर की पत्नी झुंझला उठती थी। एक जगह कबीर उसको समझाते हैं :-

सुनि अंघली लोई बंपीर।
इन मुड़ियन भजि सरन कबीर।।

जबकि कबीर को कबीर पंथ में, बाल- ब्रह्मचारी और विराणी माना जाता है। इस पंथ के अनुसार कामात्य उसका शिष्य था और कमाली तथा लोई उनकी

शिष्या। लोई शब्द का प्रयोग कबीर ने एक जगह कंबल के रूप में भी किया है। वस्तुत: कबीर की पत्नी और संतान दोनों थे। एक जगह लोई को पुकार कर कबीर कहते हैं :-

'कहत कबीर सुनहु रे लोई।
हरि बिन राखन हार न कोई॥'

यह हो सकता हो कि पहले लोई पत्नी होगी, बाद में कबीर ने इसे शिष्या बना लिया हो। उन्होंने स्पष्ट कहा है :-

नारी तो हम भी करी, पाया नहीं विचार।
जब जानी तब परिहरि, नारी महा विकार॥

गुरु दीक्षा

कबीर जी ने सोचा कि गुरु किये बिना काम बनेगा नहीं। उस समय काशी में रामानन्द नाम के संत बड़े उच्च कोटि के महापुरुष माने जाते थे। कबीर जी ने उनके आश्रम के मुख्य द्वार पर आकर विनती की: 'मुझे गुरु जी के दर्शन कराओ।' उस समय जात-पाँत का बड़ा आग्रह रहता था। और फिर काशी ! वहाँ पण्डितों और पाण्डे लोगों का अधिक प्रभाव था। कबीर जी ने देखा कि हर रोज सुबह तीन-चार बजे स्वामी रामानन्द खड़ाऊँ पहनकर 'टप...टप....' आवाज करते गंगा में स्नान करने जाते हैं। कबीर जी ने गंगा के घाट पर उनके जाने के रास्ते में और सब जगह बाड़ कर दी। एक ही मार्ग रखा और उस मार्ग में सुबह के अन्धेरे में कबीर जी सो गये। गुरु महाराज आये तो अन्धेरे के कारण कबीर जी पर पैर पड़ गया। उनके मुख से उद्‌गार निकल पड़े: 'राम... राम... राम....।' कबीर जी का तो काम बन गया। गुरु जी के दर्शन भी हो गये, उनकी पादुकाओं का स्पर्श भी मिल गया और गुरुमुख से रामनाम का मंत्र भी मिल गया। अब दीक्षा में बाकी ही क्या रहा? कबीर जी नाचते, गाते, गुनगुनाते घर वापस आये। रामनाम की और गुरुदेव के नाम की रट लगा दी। अत्यंत स्नेहपूर्वक हृदय से गुरुमंत्र का जप करते, गुरुनाम का कीर्तन करते साधना करने लगे। जो महापुरुष जहाँ पहुँचे हैं वहाँ की अनुभूति उनका भावपूर्ण हृदय से चिन्तन करने वाले को भी होने लगती है। काशी के पण्डितों ने देखा कि यवन का पुत्र कबीर रामनाम जपता है, रामानन्द के नाम का कीर्तन करता है ! उस यवन को रामनाम की दीक्षा किसने दी? क्यों दी? मंत्र को भ्रष्ट कर दिया ! पण्डितों ने कबीर से पूछा:-

'रामनाम की दीक्षा तेरे को किसने दी?'
'स्वामी रामानन्द जी महाराज के श्रीमुख से मिली।'
'कहाँ दी?'
'सुबह गंगा के घाट पर।'

पण्डित रामानन्द जी के पास पहुँचे और कहा कि आपने यवन को राममंत्र की दीक्षा देकर मंत्र को भ्रष्ट कर दिया, सम्प्रदाय को भ्रष्ट कर दिया। गुरु महाराज ! यह आपने क्या किया?

गुरु महाराज ने कहा- 'मैंने तो किसी को दीक्षा नहीं दी।'

'वह यवन जुलाहा तो रामानन्द..... रामानन्द.... मेरे गुरुदेव रामानन्द' की रट लगाकर नाचता है, आपका नाम बदनाम करता है।'

'भाई ! मैंने उसको कुछ नहीं कहा। उसको बुलाकर पूछा जाये। पता चल जायेगा।'

काशी के पण्डित इकट्ठे हो गये। कबीर जी को बुलाया गया। गुरु महाराज मंच पर विराजमान हैं। सामने विद्वान् पण्डितों की सभा बैठी है।

रामानन्द जी ने कबीर से पूछा: 'मैंने तुझे कब दीक्षा दी? मैं कब तेरा गुरु बना?'

कबीर जी बोले: 'महाराज ! उस दिन प्रभात को आपने मेरे को पादुका का स्पर्श कराया और राममंत्र भी दिया, वहाँ गंगा के घाट पर।'

रामानन्द जी कुपित से हो गये। कबीर जी को अपने सामने बुलाया और गरज कर बोले: 'मेरे सामने तू झूठ बोल रहा है? सच बोल....'

'प्रभु ! आपने ही मुझे प्यारा रामनाम का मंत्र दिया था।...'

कबीरदास की मजार और समाधि, मगहर, उत्तर प्रदेश

रामानन्द जी को गुस्सा आ गया। खडाऊँ उठाकर दे मारी कबीर जी के सिर पर।

'राम... राम...राम....! इतना झूठ बोलता है।...।'

कबीर जी बोल उठे: 'गुरु महाराज ! तब की दीक्षा झूठी तो अब की तो सच्ची...! मुख से रामनाम का मंत्र भी मिल गया और सिर में आपकी पावन पादुका का स्पर्श भी हो गया।'

स्वामी रामानन्द जी उच्च कोटि के संत-महात्मा थे। घड़ी भर भीतर गोता लगाया, शांत हो गये। फिर पण्डितों से कहा: 'चलो, यवन हो या कुछ भी हो, मेरा पहले नम्बर का शिष्य यही है।'

ब्रह्मनिष्ठ सत्पुरुषों की विद्या या दीक्षा प्रसाद खाकर मिले तो भी बेड़ा पार करती है और मार खाकर मिले तो भी बेड़ा पार कर देती है।

मृत्यु

कबीर ने काशी के पास मगहर में देह त्याग दी। ऐसी मान्यता है कि मृत्यु के बाद उनके शव को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया था। हिन्दू कहते थे कि उनका अंतिम संस्कार हिन्दू रीति से होना चाहिए और मुस्लिम कहते थे कि मुस्लिम रीति से। इसी विवाद के चलते जब उनके शव पर से चादर हट गई, तब लोगों ने वहाँ फूलों का ढेर पड़ा देखा। बाद में वहाँ से आधे फूल हिन्दुओं ने ले लिए और आधे मुसलमानों ने। मुसलमानों ने मुस्लिम रीति से और हिंदुओं ने हिंदू रीति से उन फूलों का अंतिम संस्कार किया। मगहर में कबीर की समाधि है। जन्म की भाँति इनकी मृत्यु तिथि एवं घटना को लेकर भी मतभेद हैं, किन्तु अधिकतर विद्वान् उनकी मृत्यु संवत् 1575 विक्रमी (सन् 1518 ई.) मानते हैं, लेकिन बाद के कुछ इतिहासकार उनकी मृत्यु 1448 को मानते हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी की कलम से

त्रिपुरा जिले के योगियों को पहले अग्निदाह करते हैं और फिर समाधि भी देते हैं अर्थात् मिट्टी में गाड़ भी देते हैं। कबीरदास के विषय में प्रसिद्ध है कि उनकी मृत्यु के बाद कुछ फूल बच रहे थे जिनमें से आधे को हिन्दुओं ने जलाया और आधे को मुसलमानों ने गाड़ दिया। कई पंडितों ने इस को करामाती किंवदती कहकर उड़ा दिया है, पर मेरा अनुमान है कि सचमुच ही कबीरदास को (त्रिपुरा जिले के वर्तमान योगियों की भाँति) समाधि भी दी गई होगी और उनका अग्नि-संस्कार भी किया गया होगा। यदि यह अनुमान सत्य है तो दृढ़ता के साथ ही कहा जा सकता है कि कबीरदास जिस जुलाहा जाति में पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहले के योगी जैसी किसी आश्रम-भ्रष्ट जाति से मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह में थी। जोगी जाति का संबंध नाथपंथी सिद्धांतों की जानकारी न हो, तो कबीर की वाणियों को समझ सकना भी मुश्किल है।

कृतियाँ

संत कबीर ने खुद ग्रंथ नहीं लिखे, मुँह से भाखे और उनके शिष्यों ने उसे लिख लिया। आप के समस्त विचारों में रामनाम की महिमा प्रतिध्वनित होती है।

वे एक ही ईश्वर को मानते थे और कर्मकाण्ड के घोर विरोधी थे। अवतार, मूर्ति, रोजा, ईद, मस्जिद, मंदिर आदि में उनकी आस्था नहीं थी।

कबीर के नाम से मिले ग्रंथों की संख्या भिन्न-भिन्न लेखों के अनुसार भिन्न-भिन्न है। एच.एच. विल्सन के अनुसार कबीर के नाम पर आठ ग्रंथ हैं। बिशप जी.एच. वेस्टकॉट ने कबीर के 84 ग्रंथों की सूची प्रस्तुत की तो रामदास गौड ने हिंदुत्व में 71 पुस्तकें गिनायी हैं। कबीर की वाणी का संग्रह बीजक के नाम से प्रसिद्ध है। इसके तीन भाग हैं–

1. रमैनी
2. सबद
3. सारवी।

यह पंजाबी, राजस्थानी, खड़ी बोली, अवधी, पूरबी, ब्रजभाषा आदि कई भाषाओं की खिचड़ी है।

कबीर परमात्मा को मित्र, माता-पिता और पति के रूप में देखते हैं। यही तो मनुष्य के सबसे निकट रहते हैं। वे कभी कहते हैं–हरिमोर पिउ, मैं राम की बहुरिया तो कभी कहते हैं, हरि जननी मैं बालक तोरा उस समय हिन्दू जनता पर मुस्लिम आतंक का कहर छाया हुआ था। कबीर ने अपने पंथ को इस ढंग से संगठित किया जिससे मुस्लिम मत की ओर झुकी हुई जनता सहज ही इनकी अनुयायी हो गयी। उन्होंने अपनी भाषा सरल और सुगम्य रखी ताकि वह आम आदमी तक पहुँच सके। इससे दोनों सम्प्रदायों के परस्पर मिलन में सुविधा हुई। इनके अनुयायी मुसलमान-संस्कृति और गोभक्षण के विरोधी थे। कबीर को शांतिमय जीवन प्रिय था और वे अहिंसा, सत्य, सदाचार आदि गुणों के प्रशंसक थे। अपनी सरलता, साधु स्वभाव तथा संत प्रवृत्ति के कारण आज विदेशों में भी उनका सम्मान हो रहा है।

वृद्धावस्था में यश और कीर्ति की मार ने उन्हें बहुत कष्ट दिया। उसी हालत में उन्होंने बनारस छोड़ा और आत्म-निरीक्षण तथा आत्म-परीक्षण करने के लिये देश के विभिन्न भागों की यात्रा पर निकल पड़े। इसी क्रम में वे कालिंजर जिले के पिथौराबाद शहर में पहुँचे। वहाँ रामकृष्ण का छोटा-सा मन्दिर था। वहाँ के संत भगवान गोस्वामी जिज्ञासु साधक थे किंतु उनके तर्कों का अभी तक पूरी तरह समाधान नहीं हुआ था। संत कबीर से उनका विचार-विमर्श हुआ। कबीर की एक साखी ने उन के मन पर गहरा असर किया–

बन ते भागा बिहरे पड़ा, करहा अपनी बान।
करहा बेदन कासों कहे, को करहा को जान॥

वन से भाग कर शिकणियों के द्वारा खोदे हुए गड्ढे में गिरा हुआ हाथी अपनी व्यथा किस से कहे? सारांश यह कि धर्म की जिज्ञासा से प्रेरित हो कर भगवान गोसाई अपना घर छोड़ कर बाहर तो निकल आये और हरिव्यासी सम्प्रदाय के गड्ढे में गिर कर अकेले निर्वासित हो कर असहाय दशा में पड़ चुके हैं। मूर्ति पूजा को लक्ष्य करते हुए उन्होंने एक साखी हाजिर कर दी–

पाहन पूजे हरि मिलैं, तो मैं पूजौं पहार।
था ते तो चाकी भली, जासे पीसी खाय संसार॥
119 वर्ष की उम्र में उन्होंने मगहर में देह त्याग किया।

कबीर की साधना

कबीर के विचार से यह जीवन, संसार तथा उसके संपूर्ण सुख क्षणिक है। इनके पीछे भागना व्यर्थ में समय को गुजारना है। कबीर के अनुसार यह संसार दुखों का मूल है। सुख का वास्तविक मूल केवल आनंद स्वरूप राम है। इसकी कृपा के बिना, जन्म- मरण तथा तज्जन्य सांसारिक दुखों से मुक्ति नहीं मिल सकती। यही कारण है कि कबीर साहब राम की भक्ति पर अत्यधिक बल देते हैं और कहते हैं कि सब कुछ त्याग कर राम का भजन करना चाहिए।

सरबु तिआगि भजु केवल राम कबीर कहते हैं कि राम या परमात्मा की भक्ति से ही माया का प्रभाव नष्ट हो सकता है तथा बिना हरि की भक्ति के कभी दुखों से मुक्ति नहीं हो सकती है।

बिनु हरि भगति न मुक्ति होइ, इउ कहि रमें कबीर

परंतु कबीर की दृष्टि से भक्ति पूर्णतः निष्काम होनी चाहिए, वे हरि से धन, संतान कोई अन्य सांसारिक सुख माँगने के विरुद्ध हैं, वे तो भक्ति के द्वारा स्वर्ग भी नहीं माँगना चाहते हैं।

कबीर के राम से मुराद राजा दशरथ के पुत्र राजा राम नहीं हैं, बल्कि घट-घट में निवास करने वाले निर्गुण, निरंजन, निराकार, सत्य स्वरूप एवं आनंद स्वरूप राम हैं। उन्हें परमात्मा, हरि, गोविंद, मुरारी, अल्लाह, खुदा किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है। उन्हें ढूंढ़ने के लिए वन में भटकने की आवश्यकता नहीं है, भक्ति और युक्ति से उनका हृदय में साक्षात्कार किया जा सकता है। कबीर के मतानुसार आनंद स्वरूप राम और मनुष्य की आत्मा कोई दो भिन्न तत्त्व नहीं हैं :-

जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहरि भीतरि पानी।
फुटा कुंभ जल जलाहि समाना यहुतत कधैं गियानी।

कबीर कहते हैं :- साधक अपना अहंभाव खोकर सागर में बूँद की तरह परमात्मा से मिल सकता है :-

हंरत हंरत हे सखी, गया कबीर हिराई।
बूँद समानी समद में, सोकत हरि जाइ॥

कबीर के अनुसार मनुष्य को स्वयं यह विचार करना चाहिए कि दुख का वास्तविक कारण क्या है? सुख का मूल क्या है और उसको पाने का उपाय क्या है?

कबीर के संत–काव्य की विशेषताएँ

कबीर सन्त कवि और समाज सुधारक थे। उनकी कविता का एक-एक शब्द पाखंडियों के पाखंडवाद और धर्म के नाम पर ढोंग व स्वार्थपूर्ति की निजी दुकानदारियों को ललकारता हुआ आया और असत्य व अन्याय की पोल खोल धज्जियाँ उड़ाता चला गया। कबीर का अनुभूत सत्य अंधविश्वासों पर बारूदी पलीता था। सत्य भी ऐसा जो आज तक के परिवेश पर सवालिया निशान बन चोट भी करता है और खोट भी निकालता है। इतिहास-लेखकों ने संत काव्य को निर्गुण भक्ति काव्य तथा सगुण भक्ति काव्य में विभक्त किया है। फिर प्रत्येक काव्य–धारा को दो-दो शाखाओं में बाँटा है।

सगुण काव्य-धारा की शाखाएँ हैं–राम काव्य तथा कृष्ण-काव्य। निर्गुण काव्य-धारा को जिन दो शाखाओं में बांटा गया है, उनके नाम हैं–ज्ञानाश्रयी शाखा तथा प्रेममार्गी शाखा। ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों को संत कवि तथा उनके द्वारा रचे गये काव्य को संत काव्य कहा गया है। ज्ञानाश्रयी शाखा के संत कवि विद्वान बहुपठित तो नहीं थे, पर बहुश्रुत अवश्य थे। साधु-संगति तथा विद्वानों के संसर्ग के फलस्वरूप उनके आध्यात्मिक तथा दार्शनिक विचार अत्यंत परिपक्व तथा उदात्त हैं, और उन्हें पढ़कर लगता है कि उनके विचार गीता, उपनिषद्, शंकराचार्य के अद्वैतवाद, बौद्ध दर्शन, नाथ पंथ, सिद्धों, इस्लाम के एकेश्वरवाद तथा सूफियों से प्रभावित थे। संत कवियों में कबीर का स्थान तथा महत्त्व सर्वोपरि है। इसलिए उनके काव्य में संत-काव्य की सभी विशेषताएँ मिलती हैं।

ब्रह्म का स्वरूप–संत कवि निर्गुण निराकार ईश्वर में आस्था रखते थे। उनके अनुसार ब्रह्म अजन्मा, सर्वव्यापक अनादि-अंनत, निराकार तथा अनिर्वचनीय है। कबीर के ब्रह्म संबंधी विचार भी इसी प्रकार के हैं।

निर्गुण राम जपहु रे भाई।
अविगत की गति कछु लखी न जाई स्त्र

कबीर की रचनाओं में सगुण ईश्वर के वाचक शब्दों–राम, गोविंद, हरि आदि का प्रयोग पाया जाता है, पर उनके राम, दशरथ के पुत्र के रूप में अवतार लेने वाले राम नहीं हैं–

राम नाम तिहुं लोक बखाना
राम नाम का मरम है आना।

उनका ब्रह्म मानव शरीर वाला नहीं है–

जाके मुंह माथा नहीं, नाहीं रूप अरूप
पुहुप वास तैं पातरा, ऐसा तत्त अनूप

यह संसार उसी ब्रह्म से उद्‌भुत होता है और उसी में विलीन हो जाता है–

पानी ही से हिम भया, हिम है गया बिलाय।
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाये।

कबीर मानते हैं कि परमतत्त्व सर्वव्यापक है, घट-घट वासी है परंतु मूर्ख मनुष्य अज्ञान के कारण उसे मंदिरों, तीर्थ-स्थानों, जंगलों में ढूँढता-फिरता है।

कस्तूरी कुंडलि बसै मृग ढूंढै बन मांहि।
तैसे घट घट राम हैं, दुनिया देखे नाहि।

कबीर मानते हैं कि इस ब्रह्म की प्राप्ति के लिए भक्ति, अनन्य प्रेम तथा योग-साधना जरूरी है।

जीव–कबीर अद्वैतवादियों के समान जीवन और ब्रह्म में अभेद मानते हैं। तुलसी के 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' में जो भाव निहित है, वही कबीर की इस उक्ति में है–

हरि में पिंड पिंड में हरि है
अथवा
जल में उत्पति जल में वास
जल में नलिनी तोर निवास
जल में कुंभ में जल है भीतर बाहर पानी
फूटा कुंभ में जल है भीतर बाहर पानी
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यह तत कहौ गियानी।

उनका मानना है कि अज्ञान के कारण जीव खुद को ब्रह्म से भिन्न मानता है, तुच्छ समझता है। अज्ञान का आवरण हटते ही उसकी दृष्टि निर्मल हो जाती

है, ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। इस अज्ञान का मूल कारण अंहकार है, अत: इस अहं भाव को खत्म करना होगा, उसके मिटते ही जीव ब्रह्म से एकाकार हो जाता है–

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
सब अंधियारा मिट गया पी देखत माहि स्त्र

कबीर सांसारिक जीव को क्षणभंगुर मानते हैं–

'पानी केरा बुदबुदा' या 'प्रात:कालीन तारा' कहकर उन्होंने जीव की नश्वरता का संकेत दिया है।

जगत–कबीर के अनुसार यह विश्व ब्रह्म की अभिव्यक्ति तो है परंतु माया-मोह, अज्ञान, सांसारिक आकर्षणों के कारण वह सांसारिक जीवों को भ्रमित करता है और अज्ञानी लोग उसे सब कुछ मानकर ईश्वर-भक्ति से विमुख हो जाते हैं। इनके अज्ञान का कारण है माया।

माया–माया के दो रूप हैं–विद्या माया तथा अविद्या माया। विद्या माया ईश्वर की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह सृष्टि का सृजन करता है। कबीर ने माया के केवल अविद्या स्वरूप का ही उल्लेख किया है, उसकी कठोर शब्दों में निंदा की है तथा भक्तों को उससे सावधान रहने का उद्‌बोधन दिया है क्योंकि वह कामिनी तथा कंचन के रूप में ठगती है, जाल में फँसाती है–

माया महा ठगिनि हम जानी

वह कहते हैं कि वह संसार के प्राणियों को प्रवंचित करती है, लूटती है–

रमैया की दुल्हिन लूटा बजार

उनके माया-संबंधी विचार उपनिषद्, गीता, शंकराचार्य तथा वेदांत के अनुरूप हैं।

गुरु–संतकाव्य में गुरु को बहुत महत्त्व दिया गया है। परमतत्त्व का ज्ञान तथा उसकी प्राप्ति के लिए गुरु का होना परम आवश्यक है। गुरु को बहुत महत्त्व दिया गया है। सतगुरु की कृपा से ही अज्ञान में भटका जीव भव-सागर को पार कर सकता है–

बलिहारी गुरु आपने घौ हाड़ी कै बार।
जिन मानुष तैं देवता करत न लागी बार।

'गुरुदेव के अंग' की साखियों में कबीर ने बड़ी उच्छ्वसित भाषा में गुरु के महात्म्य का वर्णन किया है–

सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उघाडिया, अनंत दिखावणहार।

एक अन्य साखी में वह गुरु को ईश्वर से भी अधिक महत्त्व देते हैं–

गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूं पाय।
बलिहारी गुरु आपणे जिन गोविन्द दियौ दिखाया।

जाति-पांति का विरोध–बौद्ध धर्म ने सर्वप्रथम ब्राह्मणवादी कर्मकाण्ड के विरुद्ध जनव्यापी विद्रोह का रूप धारण किया। बाद में भक्ति-आंदोलन के प्रारंभिक कवियों–कबीर, रैदास, दादू आदि निम्न वर्ग (जुलाहा, चमार, धोबी, रंगसाज) से आये कवियों तथा उनके चलाये गये पंथों–संप्रदायों ने ब्राह्मण धर्म की अनुदारता के विरुद्ध व्यापक जनविद्रोह का रूप अपनाया और यह धार्मिक विद्रोह जन-जन में फैल गया। अधिकतर संत कवि–रैदास, मलूकदास, रज्जन, कबीर सब निम्न जाति के थे तथा सवर्ण लोगों के अत्याचारों से पीड़ित रहे थे। भुक्तभोगी होने के कारण कबीर ने ऊँच-नीच, सवर्ण-शूद्र, जाति-पांति, वर्ग-भेद का तीव्र विरोध किया तथा कहा कि भक्ति, मंदिर-प्रवेश, शास्त्र-पाठ का अधिकार सबको है। इनकी दृष्टि में मानव धर्म ही श्रेयस्कर है, प्राणिमात्र के प्रति करुणा, सहायता का भाव होना चाहिए। कबीर ने अपनी अक्खड़ वाणी में ब्राह्मणों के आभिजात्य को चुनौती दी–

जो तू बाहम्न वबाहम्नि जाया
और राह ते काहे न आया

अन्यत्र उन्होंने उसे शास्त्रार्थ के लिए ललकारते हुए कहा–

तू ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा चीन्ह न मोर गियाना।

मिथ्याचार, रूढ़ियों, अंधविश्वासों का विरोध अन्य संत-कवियों के समान कबीर ने भी किया। हिन्दू तथा मुसलमानों दोनों के बाह्याडम्बर, उनकी अज्ञानता तथा उनके पाखंडों पर कठोर प्रहार किया। इन स्थलों पर उनकी वाणी में तीखा व्यंग्य है, प्रतिपक्ष को धूल चटाने की अपार शक्ति है। सिर मुंडाने, तिलक-छापा लगाने, माला फेरने, गंगा-स्नान कर पापों को धोने, तीर्थयात्रा द्वारा स्वर्ग के द्वार खुलने, मूर्ति-पूजा, पशु-बलि या कुर्बानी सब पर कठोर प्रहार किया है। मूर्ति-पूजा पर प्रहार करते हुए कहते हैं–

पाहन पूजै हरि मिलैं तो मैं पूजूं पहार।
ताते तो चाकी भली पीस खाय संसार।

सिर मुड़ाना–*मूंड मुड़ाए हरि मिलै सब कोई लेय मुड़ाय।*
बार-बार के मूड़ते भेड़ न बैकुंठ न जाय।
माला फेरना–*माला फेरत जग मुआ गया न मन का फेर।*
पशु-बलि–*बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल*
जे नर बकरी खात है, तिनकौ कौन हवाल।
रोजा रखना–*दिन को रोजा रखत है*
रात हनत है गाय।
नमाज पढ़ना–*कांकर पाथर जोरि कै मस्जिद लई बनाय।*
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, बहिरा हुआ खुदाय।
छापा-तिलक–*छापा तिलक लगाइ कर दुरधालोक अनेक*
छुआछूत–*हिन्दू आपन करै बड़ाई गागर छुअन न देई*
वेश्या के पायन तर सोवे, यह देखों हिन्दुवाई।

बहुदेववाद तथा अवतारवाद–अक्षय पुरुष इक पेड़ है, निरंजन वाकी डार त्रिदेव शाख भये, पात भसा संसार। न दसरथ घर औतरि आया। न लंका का राव सताया।

शास्त्र-ज्ञान की तुलना में प्रेम-भक्ति की महिमा–कबीर शास्त्र-ज्ञान को अनावश्यक मानते थे–

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सौ पंडित होय।

अन्य संत कवियों के समान वह नाम-स्मरण पर बल देते हैं, पर यह नाम जाप बाहरी में होकर मन का होना चाहिए। कबीर इसे अजपा जाप कहते हैं।

कबीर सुमिरण सार है और सकल जंजाल।
आदि अंत सब सोधिया दूजा देखौं काल।

वह परम सत्ता का स्मरण करते-करते उसमें इतने लीन हो जाते हैं कि किसी अन्य का अस्तित्त्व ही नहीं रहता–

मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहिं आहि।
अब मन रामहि है रह्या, सीस नवावौं काहि।

विरह का वर्णन–कबीर ने ब्रह्म को पति तथा स्वयं को प्रेयसी मानकर अपने प्रेम-संबंध का चित्रण किया है। उनके काव्य में प्रिय-मिलन के चित्र भी हैं–

दुलहनि गावहु मंगलचार
आये है राजा राम भरतार

कबीर काव्य में मिलन के पदों की तुलना में विरह की साखियाँ तथा पद कहीं अधिक हैं, और मार्मिक भी। वह विरह को आत्मा का कलुष दग्ध करने वाला मानते हैं तथा उसे सुलतान की तरह शक्तिशाली बताते हैं–

विरहा बुरहा मत कहौ विरहा है सुलतान।
जिहि घट विरह न संचरै सो घट सदा मसानं

प्रिय के विरह में विरहिणी की दशा का वर्णन अत्यंत मार्मिक है–

अंखड़ियां झांई पड़ी पंथ निहारि।
जीभड़ियां छाल्या पड्या राम पुकारि पुकारि।

अपनी इस दारुण विरह-व्यथा का अंत करने के लिए विरही भक्त सब कुछ करने के लिए प्राण त्यागने तक के लिए भी प्रस्तुत हैं–

इस तन का दीवां करौ, बाती मेल्यूं जीव।
लोहो सींचौ तेल ज्यूं, कब मुख देखौं पीव।

क्योंकि कबीर का मानना है विरहाग्नि में तपे बिना प्रिय-से मिलन नहीं हो सकता।

हंसि हसि कंत न पाइये जिनि पाया तिन रोइ।
जौं हंसिहौं हरि मिलै तो नहीं दुहागनि कोई।

कबीर की सामाजिक चेतना

संत कबीर निर्गुण मत के अनुयायी कवि है। भक्ति काल में निर्गुण भक्तों में कबीर को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। भारतभूमि, जो अनेक रत्नों की खान रही है उन्हीं महान् रत्नों में से एक थे संत कबीर। कबीर का अरबी भाषा में अर्थ है - महान् वे भक्त और कवि बाद में थे, पहले समाज सुधारक थे। वे सिकन्दर लोदी के समकालीन थे। कबीर की भाषा सधुक्कड़ी थी तथा उसी भाषा में कबीर ने समाज में व्याप्त अनेक रूढ़ियों का खुलकर विरोध किया है। हिन्दी साहित्य में कबीर के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। रामचन्द्र शुक्ल ने भी उनकी प्रतिभा मानते हुए लिखा है " प्रतिभा उनमें बड़ी प्रखर थी। "

कबीर के समय में देश संकट की घड़ी से गुजर रहा था। सामाजिक व्यवस्था पूरी तरह से डगमगाई हुई थी। अमीर वर्ग, वैभव - विलासिता का जीवन जी रहा था, वहीं गरीब दो वक्त की रोटी के लिए तरस रहा था। हिन्दू

और मुस्लिम के बीच जाति – पांति, धर्म और मजहब की खाई गहरी होती जा रही थी। एक महान क्रान्तिकारी कवि होने के कारण उन्होंने समाज में व्याप्त कुरीतियों, बुराइयों को उजागर किया। संत कबीर भक्तिकालीन एकमात्र ऐसे कवि थे जिन्होंने राम – रहीम के नाम पर चल रहे पाखंड, भेद – भाव, कर्म – कांड को व्यक्त किया था। आम आदमी जिस बात को कहने क्या, सोचने से भी डरता था, उसे कबीर ने बड़े निडर भाव से व्यक्त किया था। कबीर ने अपनी वाणी द्वारा समाज में व्याप्त अनेक बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया। उनके साहित्य में समाज सुधार की जो भावना मिलती है। उसे हम इस प्रकार से देख सकते हैं।

धार्मिक पाखण्ड का विरोध करते हुए कबीर कहते हैं भगवान को पाने के लिए हमें कहीं जाने की जरूरत नहीं है। वह तो घट – घट का वासी है। उसे पाने के लिए हमारी आत्मा शुद्ध होनी चाहिए। भगवान न तो मंदिर में है, न मस्जिद में है। वह तो हर मनुष्य में है।

'' कस्तुरी कुण्डली बसै, मृग ढूंढें बन माँहि।
एसै घटि घटि राम हैं, दुनियाँ देखै नाँहि॥

" माला फेरत जुग गया, गया न मन फेर,
कर का मनका डारि के मन का मनका फेर। "

कबीर ने मूर्ति पूजा की भी कड़े शब्दों में निंदा की है। अगर पत्थर पूजने से भगवान मिलता है तो मैं तो पूरे पहाड़ को ही पूजने लग जाऊंगा।

" कबीर पाथर पूजे हरि मिलै, तो मैं पूजूँ पहार।
घर की चाकी कोउ न पूजै, जा पीसा खाए संसार॥ "

कबीर जी हिंसा का विरोध करते हैं। एक जीव दूसरे जीव को खाता है तो कबीर को बहुत ही टीस होती है। वे उन्हें समझाते हुए कहते हैं –

बकरी पाती खात है, ताकी काठी खाल,
जो नर बकरी खात है, तिनको कौन हवाल। "

कबीर के अनुसार, जिसमें प्रेम, दया व करुणा भावना है वही सबसे बड़ा ज्ञानी है। बड़े – बड़े ज्ञानी भी प्रेम भावना के बिना मूर्ख के समान है।

" पोथी पढ़ी – पढ़ी जग मुआ पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का पढ़े, सो पंडित होय "।

साथ ही कबीर जी मनुष्य को समझाते हुए कहते हैं कि यह मनुष्य जीवन क्षण – भर के लिए है। इस पर हमें घमण्ड नहीं करना चाहिए। यह तो पानी के बुलबुले के समान पल में नष्ट हो जाएगा। हमें इसे अच्छे कर्मों में लगाना चाहिए।

" पानी केरा बुदबुदा, उस मानस की जाति।
एक दिनाँ छिप जाता है, जो तारा प्रभात। "

कबीर ने समाज में व्याप्त जाति – पांति व ऊँच – नीच की भी कड़े शब्दों में निंदा की है। वे मनुष्य के ज्ञान व कर्म को महान मानते हुए कहते हैं –

" जाति न पूछो साधा की पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का पड़ा रहने दो म्यान। "

कबीर ने गुरु को बहुत महत्त्व दिया है। उनकी अहम् प्रेरणा का मूल स्त्रोत उनके गुरु ही थे जिनकी कृपा से उन्होंने सभी संकीर्ण बन्धनों को तोड़ा, वे स्वतन्त्र – चिन्तक, उन्होंने बहुत – सी ज्ञानपूर्ण सच्चाइयों को सामान्य जन तक पहुँचाया, आत्म – ज्ञान प्राप्त करना, मूल सत्य से परिचित होना, इस सब कार्यों की प्रेरणा देने वाले उनके गुरु ही थे। वही इस मार्ग को बताने वाले थे।

" सतगुर की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार,
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावण हार॥ "

कबीर ने गुरु को परमात्मा से भी बड़ा दर्जा दिया है तथा वो कहते हैं कि गुरु ही की भक्ति के द्वारा हमें परमात्मा मिलते हैं। वो कहते हैं –

गुरु गोबिन्द दोउ खड़े, काकै लागू पाय।
बलिहारी गुरु आपने, गोबिन्द दियो बताय।
सतगुरु हमसे रीझकर, एक कहा परसंग।
बरसा बादल प्रेम का, भीज गया सब अंग। "

कबीर ने नारी की निंदा की है। उन्होंने नारी को भक्ति के मार्ग में बाधा माना है। नारी को माया स्वरूप माना है –

" नारी कीझांई परै, अंधा होत भुजंग।
कबीर तिन की कौन गति, जो नित नारी के संग॥ "

कबीर जी नाथ योग से प्रभावित थे। इसी कारण उन्होंने नारी को माया स्वरूप माना है तथा साथ ही उन्होंने पतिव्रता नारी की भूरी – भूरी प्रशंसा भी की है।

" पतिव्रता मैली भली, काली कुचित कुरूप।
वाकै एके रूप पर, वारूं कोटि स्वरूप।। "

धार्मिक सुधार और समाज सुधार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। धर्म सुधारक को समाज सुधारक होना पड़ता है। कबीर ने भी समाज सुधार के लिए अपनी वाणी का उपयोग किया है। कबीर के अनुसार जन्म से ही कोई द्विज या शूद्र अथवा हिन्दू व मुसलमान नहीं हो सकता। इसको कबीर ने कितने सीधे किन्तु मन में रखने वाले ढंग से कहा है –

" जौ तूँ बाँभन बंभनी जाया। तो आन वाट है क्यों नहिं आया।।
जौ तूँ तुरक तुरकनी का जाया। तौ भीतर खतना क्यों न कराया।। "

कबीर ने उच्चता और नीचता का संबंध व्यवसाय के साथ नहीं जोड़ा है क्योंकि कोई व्यवसाय नीचा नहीं है। अपने को जुलाहा कहने में भी उन्होंने कहीं संकोच नहीं किया और वे स्वयं भी जीवनभर ये काम करते रहते। वे उन ज्ञानियों में से नहीं थे, जो हाथ–पांव समेट कर पेट भरने के लिए समाज के ऊपर भार बनकर रहते हैं। वे परिश्रम का महत्त्व जानते थे और आजीविका के लिए ही जुलाहे का काम करते रहे।

कबीर जी धन सम्पत्ति जोड़ना भी उचित नहीं समझते थे। उन्होंने थोड़े में ही संतोष करने का उपदेश दिया है। कबीर जी ने आगे की पीढ़ी के लिए भी धन का संचय न करने का उपदेश दिया है – क्योंकि वे जानते थे कि अगर संतान अच्छी व संस्कारी है तो उसके लिए धन की जरूरत नहीं है। अगर संतान आलसी है तो वह सारे संचित धन को बेकार में व्यर्थ कर देगा। इसलिए कबीर ने कहा है –

पूत कपूत तो क्यों धन संचय
पूत सपूत तो क्यों धन संचय।

कबीरदास जी ने सुकर्म के साथ – साथ लोगों को उद्यम करने का भी उपदेश दिया है जिससे आर्थिक तंगी से निपटा जा सके और पेट भरने के लिए किसी दूसरे पर निर्भर ना रहें।

परिश्रम करने की शिक्षा देने का कबीर जी का मकसद गरीबों की गरीबी दूर करना तो था ही, साथ में देश व समाज की उन्नति करने से भी था। इसलिए कबीर कहते थे –

'' कबीर उद्यम अवगुण को नहीं , जो करि जाने कोय।
उद्यम में आनन्द है , सांई सेती होय।। "

उन्होंने जीवन को क्षण भंगुर बता कर , लोगों को भक्ति और मानव सेवा का फल प्राप्त करने व साथ ही मनुष्य को दुष्कर्म करने के प्रति भी सचेत किया है।

" पानी केरा बुदबुदा, अस मानुस की नात,
एक दिना छिप जाएगा, ज्यों तारा परभात। "

इसमें कबीर ने मनुष्य के शरीर को क्षण भंगुर कहा है कि जिस प्रकार पानी का बुलबुला क्षण में ही नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य शरीर भी पल में नष्ट हो जाएगा। इसलिए हमें अच्छे कर्म करने चाहिए।

डॉ. पारसनाथ तिवारी लिखते हैं " सच्ची बात यह है कि हिन्दी साहित्य में कबीर से बड़ा मानवतावादी कोई नहीं हुआ। उन्होंने तत्कालीन भारतीय समाज में प्रचलित समस्त अंधविश्वासों, रूढ़ियों तथा मिथ्या सिद्धान्तों द्वारा प्रचारित सामाजिक विषमताओं का मूलोच्छेद करने का बीड़ा उठाया और निर्भयता पूर्वक पाखंडों पर प्रहार किया। "

उनकी सबसे बड़ी विशेषता एकत्व की भावना का समर्थन है। डॉ. रामजी लाल के अनुसार - " कबीर ने सामाजिक विषमता को मिटाकर एकत्व की स्थापना का निश्चय किया। कबीर को प्रगतिशील कहने में हमें कोई संकोच नहीं होना चाहिए। पाँच सौ - छः सौ वर्ष पूर्व कही गई बात आज भी प्रासंगिक व सम - सामयिक है। " कबीर ने व्यक्ति व समाज को एक-दूसरे का पूरक माना है। इस तरह से कबीर भक्त, योगी व दार्शनिक होने के साथ - साथ समाज सुधारक भी थे। कबीर ने समाज सुधार के लिए प्रबल प्रयत्न कर तात्कालीन समाज को अंधकार से निकालने का भरसक प्रयास किया।

इस तरह से कबीर ने जीवन के सभी पहलुओं में झांका है। उनकी वाणियों में सम्पूर्ण जीव जगत के लिए कल्याण का मार्ग झलकता था, जो आज भी समाज के लिए दर्पण का काम करता है। कबीरदास का जीवन, मानवीय गुणों से ओत - प्रोत था, वे सभी जीवों को समदृष्टि से देखते थे, किसी व्यक्ति विशेष की न तो कभी निन्दा करते थे और न ही स्तुति। वे उस व्यक्ति व समाज की बुराइयों की खुलकर निंदा करते थे, जिनमें उनको आडम्बर, पाखण्ड व ढोंग नजर आता था, ऐसे में वो खुलकर बोलते थे -

हिन्दू के दया नहीं, मेहर तुरक के नाहिं।
कहें कबीर दोनों गए, लख चौरासी माहिं।।

कबीर लोक कल्याणकारी भावना के प्रबल समर्थक थे। वे अहंकारियों का विरोध कर निम्न वर्गीय लोगों के पक्षधर थे। वे कहते हैं –

दुर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाय।
मुई खाल की सांस सो, लोह भसम हो जाय॥

कबीर जी स्वयं एक गृहस्थ थे, इसलिए वे गृहस्थ व वैरागी दोनों को समान आदर देते थे –

" बैरागी विरक्त भला, गिरही चित्त उदार।
दूहूं चूका रीता पड़े, ताकूं बार न पार॥ "

कबीर जी पूरे विश्व को एक कुटुम्ब मानते हैं। इसलिए वे पूरे विश्व का ही सुधार चाहते हैं –

" सीलवन्त सबसे बड़ा, सर्व रतन की खानि
तीन लोक की संपदा, रही सील में आनि॥ "

अत: हम कह सकते हैं कि कबीर अपने समय एवं समाज के कटु आलोचक ही नहीं समाज को लेकर स्वप्न द्रष्टा भी थे। उनके मन में भारतीय समाज का एक प्रारूप था जिस पर वे एक विजन के साथ काम कर रहे थे। " वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे। वे हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे। साधु होकर भी योगी नहीं थे, वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे।"

इस प्रकार कबीर का अपने समाज के प्रति दृष्टिकोण वैज्ञानिक एवं व्यवस्थित था, वो किसी प्रकार के बाह्य आडंबर तथा शोषण के खिलाफ खड़े थे। इस संदर्भ में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा भी है कि " कबीरदास ऐसे ही मिलन बिन्दु पर खड़े थे, जहाँ एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता था, दूसरी ओर मुसलमान, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर अशिवा, जहाँ एक ओर ज्ञान भक्ति मार्ग निकल जाता है, दूसी ओर योगमार्ग, जहाँ एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना। उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे। वे दोनों को देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गये मार्गों के गुण दोष उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। "

कबीर का काव्य सौंदर्य

कबीर एक कवि, सुधारक, संत और दार्शनिक थे। कबीर ने काव्य का सृजन स्वान्त: सुखाय किया है, परांत: सुखाय नहीं, इसी कारण अक्सर यह सवाल उठाया जाता है कि क्या कबीर सच्चे अर्थों में एक सफल कवि थे।

कबीर के सामने एक आदर्श था, समाज और मानवता के उच्चादर्शों की ओर प्रेरित करने का, उसी संधान में वे लगे रहे, फिर भी इसमें संदेह नहीं है कि उन्हें अपने काव्य के लक्ष्य में भी सफलता मिली है, वे एक सफल कवि भी हैं, उनके काव्य को भी काव्य की कसौटी पर खरा पाया गया है, उनके काव्य का भाव-पक्ष एवं कला पक्ष सुन्दर, गेय एवं रंजक है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने कुछ इसी प्रकार की बातें कबीर के कवित्व के विषय में कही हैं–

कबीर साहब की तमाम शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार 'काव्य नहीं कह सकते। उनकी दृष्टि से कदाचित् रचना भी नहीं की गई थी। अधिक सम्भव यही है कि उन्होंने केवल अपने भावों की सरल अभिव्यक्ति मात्र के लिए ही पद्य-रचना की हो। किन्तु उनकी ऐसी कृतियों में भी बहुत-सी, उनकी सहज प्रतिभा के कारण काव्य कहलाने योग्य भी बन गई। डॉ. सरनाम सिंह शर्मा का कथन है–

जहाँ कवि की कल्पना ऊंची किन्तु स्पष्ट और सरल होती है अर्थात् कवि की स्वाभाविक प्रवृत्ति काव्य से ओत-प्रोत रहती है, वहां कविता का माधुर्य और लालित्य आस्वादन करने योग्य है। परमसिद्ध कवियों की भांति कबीर ने अपने काव्य में हमें इस प्रकार की छटा दिखलाई है। जिसमें सरस पाठक और मनस्वी चिन्तक साथ-साथ डूब जाते हैं–

''लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल।
लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गई लाल स्त्र

संत कवियों के काव्य का उद्देश्य था–लोक कल्याण की भावना। उनका सम्पूर्ण चिन्तन-मनन संत कवियों का एकमात्र उद्देश्य था–लोक कल्याण की साधना के भेद को प्राय: भूले रहते थे। वहीं उनकी समस्त अभिव्यक्ति का सार था। इसलिए हम स्पष्ट कह सकते हैं कि अभिव्यक्ति की कलात्मकता की ओर उनका ध्यान कभी नहीं गया। हाँ, उनकी अभिव्यक्ति ही स्वत: कला बन गयी। इसलिए यदि हम कबीर साहित्य की काव्य-कला को विभिन्न आधारों से परखना चाहेंगे तो कदाचित् हमें निराश होना पड़ेगा। समस्त सन्त-काव्य के संबंध में यही तथ्य घटित होता है, किंतु यदि हमें मानना पड़ेगा कि कबीर के साहित्य में काव्य तत्त्व की मौजूदगी दुर्लभ नहीं है। यदि उन्होंने काव्य के लिए काव्य का सृजन किया होता तो सम्भवत: उनकी अभिव्यक्तियों में कला पद-पद पर प्राप्त होती, पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है, इसीलिए उनकी रचनाओं में काव्य-संबंधी तत्त्व यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। कुछ समालोचकों ने इनकी रचनाओं में काव्यात्मकता

देखने को व्यर्थ का प्रयास माना है। तथ्य निरूपण की यह एक विपरीत चरमकोटि है–

कबीर का भावपक्ष–कबीर पहले संत थे फिर बाद में कवि। इस कारण उनके काव्य में साधनात्मक पद्धति का विशेष रूप से वर्णन किया गया। कबीर के काव्य का मुख्य रस शांत है। शांत रस की पूर्ण निष्पत्ति के लिए कबीर ने जीवन की क्षण–भंगुरता की व्याख्या की है।

'झूठे सुख को सुख कहैं, मानत हैं मन मोद।
खलक चवेणा काल का, कुछ मुख में कुछ गोद॥

मृत्यु का वर्णन करके संसार के प्रति विरक्ति उपजाने का भी प्रयास मिलता है–

'मन्दिर माहि झबूकती दीवा कैसी जोति।
हंस बटाऊ चलि परा काढ़ो घर को छोति॥''

जीवन की अस्थिरता के प्रति अकारण भय उत्पन्न कराकर शांत रस की सिद्धि करने का प्रयास भी किया गया है–

'कबीरा गर्व न कीजिए कबहु न हंनिए कोए।
अजहूं नाव समुद्र में, न जाने का होय॥''

शांत रस के पश्चात् कबीर के काव्य में शृंगार रस की पूर्ण निष्पत्ति हुई है–

''नैना अंतर आव तूं, ज्यूं ही नैन झंपाउ।
ना हो देखौं और कूं, ना तुम देखन जाउँ
'हौं विराट की लड़की समझि समझि धुंधऊं।
छूटि पड़ौया विरह तै या सारी ही जलि जाऊं॥

कबीर के काव्य की अनुभूति प्रबल है, इसी कारण अन्य कवियों के होते हुए भी अनुभूति की सहजता के कारण कबीर का काव्य समादृत हो उठा है, यहाँ उनकी एक अनुभूतिपरक रचना देखिए–

'मेरा तेरा मनुआ कैसे एक होई रे।
मैं कहता आंखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी।

कबीर के काव्य का प्रधान विषय भक्ति है, भक्ति अनुभूति की वस्तु है, अत: कबीर काव्य में अनुभूति की सफल अभिव्यक्ति हुई है। आत्मा को प्रेमिका तथा परमात्मा को प्रियतम मानकर उन्होंने श्रेष्ठ रचनाएं लिखी हैं–

दुलहिन गावहु मंगलाचार।
आजु घर आये हो राजाराम भरतार॥

कबीर के भाव पक्ष में बड़ी शक्ति, उनका प्रत्येक शब्द अनुभूति से प्रेरित है। इसी कारण कबीर का श्रृंगार रस वर्णन अध्यात्म से ओत-प्रोत होते हुए भी नीरस नहीं होने पाया है यथा–

पिय तेरे चतुर तू मूरख नारी।
कबहुँ न पिय की सेज संवारी॥
जाग देखि पिय सेज न तेरे।
तोहि छांडि उठ गये सवेरे॥

कबीर के काव्य में बुद्धितत्त्व का समग्र समावेश हुआ है। कबीर के काव्य का मुख्य विषय निर्गुण ब्रह्म की व्याख्या है। उन्होंने अपने काव्य में बुद्धितत्त्व के प्रयोग के द्वारा ही ब्रह्म का विश्लेषण और तत्त्व निरूपण किया है, कबीर ने सम्पूर्ण सरस, सरल और प्रभावोत्पादकता ढंग से कही है।

कबीर का काव्य रसासिक्त है, उनके ब्रह्म का वर्णन शुष्क एवं नीरस नहीं है। इसलिए **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने लिखा है–

कबीरदास ने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक, रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद के समन्वय से आपना पथ खड़ा किया। इनकी वाणी में ये सब अवश्व स्पष्ट लक्षित होते हैं।

कबीर का रहस्यवाद गूढ़ और आध्यात्मिक होते हुए भी रसमय है, उनका रहस्यवाद शुष्क नहीं हो पाया है, इसका कारण उनका भावतत्त्व ही है कबीर की रसासिक्त कुछ सखियां दृष्टव्य हैं–

प्रीतम को पतियां लिखूं जो कहूं होय विदेश
तन में मन में नैन में ताको कहा संदेश॥

कल्पना तत्त्व उच्च काव्य का एक जरूरी गुण माना गया है, कबीर के काव्य में कल्पनातत्त्व का भी उच्च स्तर में प्रयोग किया गया है, परंतु कबीर का काव्य–अतिशयोक्तियों और अत्युक्तियों से रहित है। कल्पनातत्त्व के कुछ सुन्दर उदाहरण दृष्टव्य हैं–

'पिय ऊँची रे अटरिया तोरी देखन चली।'
कबीर के काव्य का आधार उनका 'राम नाम' है।

'चरण कमल चित्त लगए, राम नाम गुन गाई।
कहै कबीरा ससा नहीं भगति मुकुति गति पाइ॥

कबीर के काव्य में आध्यात्मिक ज्ञान की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है यथा–

बहुत दिनन में प्रीतम पायें।
भाग बड़े घर बैठे आए॥
मंगलाचार मांहि मन राखौं, राम रसाइणा रसना चाषौं।
मंदिर मांहि भया उजियारा, ले सूती अपना पीव पियारा॥

कबीर भी प्रभु के विरह में व्याकुल हैं, उनके विरह व्यथा से आंदोलित हृदय में एक सहृदय भक्ति कवियों की भांति ही (सूर, मीरा, आदि) उच्चकोटि की तन्मयता एवं रसमयता उपलब्ध होती है, एक उदाहरण दृष्टव्य हैं–

आहेड़ी दव लाइया, मिरग रयौ हैं रोइ।
जा नव में क्रीड़ा करी दाझन हैं बन सोई॥

कबीर के काव्य में स्पष्टता एवं सहजता है, हृदय की सच्ची अनुभूति को उन्होंने निरुपित किया है, उनकी स्पष्टवादिता के कारण ही कुछ आलोचक उन पर अक्खड़पन का दोष लगाते हैं। वास्तव में कबीर कुछ छिपाने के आदी न थे, जैसा और जिस रूप में उन्होंने उचित समझा उसे उसी रूप में कहा। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेद्वी ने उचित ही लिखा है–

''व्यंग्य करने में और चुटकी लेने में कबीर अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखते।. ...अत्यंत सधी भाषा में ऐसी गहरी चोट करते हैं कि खाने वाला केवल धूल झाड़ कर चल देने के सिवाय कोई रास्ता नहीं पाता।''

डॉ. श्यामसुन्दर दास जी ने भी इसी प्रकार का मत व्यक्त किया था। डॉ. रामकुमार वर्मा का मत है–

उन्होंने जो कुछ कहा है वह अपनी प्रतिभा तथा भावुकता के वशीभूत होकर कहा उनमें कवित्व उतना नहीं था जितना भक्ति और भावुकता थी। उनकी अटपटी वाणी हृदय में चुभने वाली है। कबीर का काव्य बहुत स्पष्ट और प्रभावशाली है। उनकी काव्यानुभूति इतनी उत्कृष्ट थी कि वे सरलता से महाकवि कहे जा सकते हैं।

कबीर कुछ भी पढ़े-लिखे नहीं थे, अत: एक शिक्षित कवि के काव्य के कला पक्ष में जो सहज सौंदर्य होगा, उसका अभाव कबीर के काव्य में हो सकता है, फिर भी कबीर का कला पक्ष भी उत्कृष्ट कोटि का है, उन्होंने अपने जीवन

के अनुभवों से ही उच्चकोटि का काव्य प्रस्तुत किया है। कलापक्ष के अंतर्गत सर्वप्रथम स्थान भाषा को प्राप्त है, कबीर भाषा के अद्‌भुत कारीगर थे, उनकी भाषा को 'पंचमेल खिचड़ी' और 'सधुक्कड़ी भाषा' कहा गया है, क्योंकि उनकी भाषा में ब्रजभाषा अवधी, अरबी, फारसी, भोजपुरी, बनारसी तथा पंजाबी सभी भाषाओं के शब्द मिलते हैं फिर भी उनकी सबसे बड़ी खासियत यह है कि उन्होंने जन भाषा को अपने काव्य का माध्यम बनाया, इसी कारण उनका काव्य जनता में बहुत प्रचलित हुआ। वे 'संस्कृत' को तो कूप जल मानते थे, और भाषा को बहता पानी, बहते पानी में प्रत्येक स्थान की वस्तुएँ भी बहने लगती हैं इसके कारण उनके काव्य में स्थल-स्थल की भाषा के शब्द बहुलता से आये हैं।

संसकीरत कूप जल,
भाषा बहता नीर॥

प्रभविष्णुता की दृष्टि से कबीर की भाषा सशक्त एवं सफल है, व्यंग्य विनोद, चुटकी लेकर आलोचना करने, खरी-खरी सुनने में उनकी भाषा अपूर्व एवं अद्‌भुत है। इस क्षेत्र में अन्य कोई कवि उनकी समानता नहीं कर सकता है, भाषा का एक उदाहरण दृष्ट्व्य है–

हमारे राम रहीम, करीमा, कैसो अलह राम सति सोई।
विसमिल मेटि विसम्भर, एकै, ओर न दूजा कोई॥

कबीर की भाषा के इसी गुण की प्रशंसा डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी इन शब्दों में करते हैं। ''सच पूछा जाए तो आज तक ऐसा जबर्दस्त व्यंग्य लेखक पैदा ही नहीं हुआ उनकी साफ चोट करने वाली भाषा बिना कहे भी सब कुछ कह देने वाली शैली और अत्यंत सादी किन्तु अत्यंत कटु आशय युक्त कथ्य असाधारण हैं। हमने देखा कि बाह्याचार पर साधारण आक्रमण करने वाले संतों योगियों की कमी नहीं है, पर इस कदर सहज और सरल ढंग से चकनाचूर करने वाली भाषा कबीर के पहले बहुत कम दिखाई दी है।''

अन्य महान कवियों की भांति ही कबीर ने भी 'प्रतीकों' का सहारा लिया है, उनके अधिकांश प्रतीक दाम्पत्य भाव को लेकर घटित हुए हैं। दाम्पत्य भाव का एक प्रतीक देखिए–

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे का ताना काहे का बाना, कौन तार से बीनी चदरिया।
इंगला पिंगला ताना भरनी, सुसमन तार से बीनी चदरिया॥

उनकी 'उलटवासियां' भी उनके कलापक्ष को उजागर करती हैं, कबीर की उलटवासियां कलात्मक पक्ष एवं आध्यात्मिक साधना दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं, एक उदाहरण दृष्टव्य है–

आकासे मुख औंधा कुंआ पताले पनिहारि।
ताका पाणि को हंसा पिवै बिरला आदि विचारि॥

कोई तथ्य जब मानव की अनुभूति की विभिन्न सीमाओं में गुंजित होकर व्याप्त होता है तब वह व्यक्ति विशेष की वाणी का आलम्बन पाकर अपना अलग रूप व्यक्त करने लगता है। इसी प्रकार एक ही तथ्य विभिन्न रूपों अथवा शैलियों में हमारे समक्ष आता है। यह रूप या शैली ही अलंकार है। कबीर संत कवि थे, अतः कविधर्म के प्रति वे विशेष रूप से सजग नहीं थे, अतः उन्होंने अलंकारों का कविधर्म के रूप में प्रयोग नहीं किया है। हाँ, अपने कथन को प्रभावोत्मक बनाने के लिए उन्होंने विशेष रूप से दो अलंकारों का इस्तेमाल किया है। सांगरूपक का एक उदाहरण–

नैनों की कोठरी पुतली पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारि के पिय को लिया रिझाय॥

कबीर के काव्य में 'विरोधाभास' अलंकार का भी प्रयोग हुआ है–

आंगनि बेलि अकासि फल अणव्यावर का दूध।
ससा सिंह की धूनहड़ी, रमै बाँझा का पूत॥

कबीर की रचनाओं में अलंकारों के इसी प्रकार के कई उदाहरण प्राप्त होते हैं। अलंकारों के प्रयोग से भाषा में सानुप्रासिकता का समावेश होता है। कबीर की रचनाओं के कुछ अन्य अलंकारों के उदाहरण दृष्ट्व्य हैं–

छेकानुप्रास–'कहत कबीरा कहि गया, सुनता सुनि गया।
मंगलाचार माहि मन राखौ।
बोलत-बोलत बढ़ै बिकारा।
बिन बोल्या क्यों कोई विचारा।

यमक–*'मन न मारया मन करि।'*

उपमा– *'कबीर प्रेम न चक्खिया, चक्खि न लीया साब।*
सूणे घर का पाहंणा ज्यूं आया त्यूं जाव।'

विभावना – *'सायर नहीं सीप बिनु स्वाति सिखर गढ़ माहि।*
कबीर मोती नीपजे शून्य सिखर गढ़ माहि।'

विशेषोक्ति– *''आसा एक जो राम की, दूजी आस निरास।*
पाणि माँहे घर करै तो भी मरै पियास।''

कबीर ने कभी अलंकारों के लिए अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है। कबीर की काव्य-रचना शैली भी श्रेष्ठ है। सामान्य रूप में कबीर साहित्य साखी 'पद' और 'रमैनी' ही रचना शैली के रूप में प्रसिद्ध है, लेकिन गंभीरता से अध्ययन करने पर कई साहित्य में अन्य छन्दों की योजना भी उपलब्ध होती है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने कबीर साहित्य का विस्तृत अध्ययन किया है। उन्होंने 'कबीर साहित्य की परख' में कबीर के छन्द की गणना करके लिखा है कि कबीर ने साखी, पद, रमैनी, बावनी, चौंतीसा, थिंती, बार बसंत, चांचर, हडोला, कहरा, बेलि, बिरहुल और विप्रमतीसी आदि छन्दों का इस्तेमाल किया। कबीर की काव्य-कला की सबसे बड़ी खासियत यह है कि वे शब्दों तथा उनके प्रयोग–रूपों की ओर नहीं दौड़ते हैं। वे अपने अनुभव को एक शब्दमय रूप प्रदान करना चाहते हैं और वह रूप उनकी वाणी के सहजोन्मेष का प्रतिफल है। इसीलिए कबीर के काव्य में अकृत्रिमता पाई जाती है। वे मनचाहे ढंग से शब्दों एवं पदों का प्रयोग करते हैं और हृदय की निश्चल अभिव्यक्ति के कारण वे काव्य-रूपों की सृष्टि करने लगते हैं। हृदय की विशालता, अनुभूति की गहन तथा चिन्तन की व्यापकता इन सबने मिलकर कबीर की वाणी को गरिमा प्रदान की है। उनकी भाषा भावों की सहज विन्यास में बड़ी कठोर एवं कर्कश है। इसीलिए लोगों के समक्ष उनका अक्खड़पन बार-बार उभर आता है, किन्तु वे अपनी भावमयता के क्षणों में बड़ी ही सरस एवं सुकुमार पदावली का प्रयोग करते हैं–

''कबीर कूता राम का, मुतियों मेरा नांव।
गले राम की जेवड़ी, जित खैचे तित जाव।''

भाषा की सहज कोमलता, स्निग्धता एवं ऋजुता, देखनी हो तो उनके विरह अंग को देखिए कितनी मर्माहत वाणी में वे अपनी पीर को व्यक्त करते हैं–

चकई बिछुरी रैन की, आई मिलै परभाति।
जे जन बिछुरै राम सों न दिन मिलै न राति।

संक्षेप में कबीर की रचनाएँ उनकी निश्चित अभिव्यक्ति का परिणाम हैं उनकी काव्य-कला लोकानुरंजन की अपेक्षा लोक-कल्याण की साधना में संलग्न है।

इसलिए निष्कर्ष निकलता है कि महात्मा कबीर श्रेष्ठ सन्त और समाज सुधारक ही नहीं थे, वरन् उनकी काव्य-कला भी उच्चकोटि की है। उनका साहित्य कलापक्ष एवं भावपक्ष की दृष्टि से समृद्ध है। कबीर काव्य कला के बारे में इन आलोचकों के मत भी उल्लेखनीय हैं। **डॉ. गोविन्द त्रिगुणयत** का मत है कि–

''इनकी शुष्क नीरस और आध्यात्मिक उक्तियों में भी एक विचित्र आध्यात्मिक चमत्कार आ गया है। यह चमत्कार कहीं अलंकार-मूलक है, कहीं रस-मूलक और कहीं लक्षणा या व्यंजनामूलक। अतएव उनकी शुष्क आध्यात्मिक उपंक्तियां भी काव्य के अंतर्गत आती हैं।'' **श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव** का कथन है–कबीर के काव्य में विषयों की विविधता भले ही न हो, परंतु जितना कुछ इन्होंने कहा है। उसका एक-एक शब्द उनके हृदय के सबसे गहरे तल का रस सरोवर है और उसकी अभिव्यक्ति में उनकी वाणी जैसे बिना प्रयास के सफल हुई है।'' **डॉ. श्यामसुन्दर दास** का मत है–"उनकी विचारधारा सत्य की खोज में बही है, उसी का प्रकाश करना उनका ध्येय है कविता के लिए उन्होंने कविता नहीं की है। उनकी स्वाभाविकता और प्रतिभा का फल है कि उनकी बहुत-सी उक्तियाँ लोगों की जुबान पर चढ़कर कहावतों के रूप में चल पड़ी हैं। हार्दिक उमंग को लपेट में सहज विदग्धता उनकी उक्तियों में आ गई है, वह अत्यंत भावपात्र है।''

भारतीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में भक्ति आन्दोलन को देखा-परखा जाता है। यह इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना निम्नलिखित विशेषताओं के कारण है-

जनता की एकता की स्वीकृति

भक्ति आन्दोलन ने अपने धार्मिक विचारों के बावजूद जनता की एकता को स्वीकार किया। यह स्वीकृति वैचारिक और व्यावहारिक दोनों आधारों पर है। रामानन्द की शिष्य परम्परा में कबीर, रैदास, दादू, तुकाराम तथा तुलसी समान रूप से स्वीकृत हैं, तथा मीरा ने अपने गुरु के रूप में रैदास को स्वीकार किया यह भी एक मिसाल है। दूसरे कबीर कहते हैं- 'ना मैं हिन्दू ना मुसलमान' और तुलसी जब भील-भीलनी, किरात जैसी जंगली जातियों को राम के द्वारा स्वीकार और सम्मानित करवाते हैं तो इसी एकता की बात करते हैं।

ईश्वर के समक्ष सबकी समानता

भक्ति आन्दोलन का यह एक ऐसा वैचारिक आधार है जिसके माध्यम से वह ऊँच-नीच एवं जाति और वर्ण-भेद के आधार पर विभाजित मानवता की समानता को एक नैतिक और मजबूत आधार प्रदान करते हैं। समाज में व्याप्त असमानताओं का आधार भी ईश्वर की भक्ति को बनाया गया था- भक्ति संतों ने उन्हीं के हथियारों से उन पर वार किया और कहा कि- 'ब्रह्म' के अंश सभी जीव हैं तो फिर यह विषमता क्यों? कि किसी को ईश्वर उपासना का सम्पूर्ण अधिकार और किसी को बिल्कुल नहीं, इतना ही नहीं इसी आधार पर समाज को रहन-सहन, खान-पान, छुआ-छूत एवं आर्थिक विषमताओं से विभाजित किया गया था। भक्तों ने चाहे वे निर्गुण हों चाहे सगुण सभी ने ईश्वर के समक्ष मानव मात्र की समानता को एक स्वर से स्वीकार किया।

जाति-प्रथा का विरोध

'जाति प्रथा' समाज की एक ऐसी बुराई थी जिसके चलते समाज के एक बड़े वर्ग को मनुष्यत्व के बाहर का दर्जा मिला हुआ था। 'अछूत', 'शूद्र', 'अन्त्यज', 'निम्नतम' श्रेणी के मनुष्यों का ऐसा समूह था जिसे मनुष्यत्व की मूलभूत पहचान भी प्राप्त नहीं थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ग में भी जातिगत श्रेष्ठता और सामाजिक व्यवस्था में उच्च श्रेणी के लिए संघर्ष होते रहते थे। भक्ति संतों ने मनुष्यता के इस अभिशाप से मुक्ति की लड़ाई पूरी ताकत से लड़ी। कबीर जब 'ना हिन्दू ना मुसलमान' की बात करते हों या किसी जाति विशेष के विशिष्ट अधिकारों पर चोट करते हों, जो उन्हें जातिगत आधार पर मिले हों तो वे वास्तव में जाति प्रथा की इसी वैचारिक धरातल को तोड़ना चाहते हैं। 'जाति' विशेष का विरोध या जाति को खत्म करने की बात नहीं की गई, बल्कि 'जाति' और 'धर्म' के तालमले से उत्पन्न मानवीय विषमताओं और जीवन मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए जाति के आधार मिले विशेषाधिकारों को खत्म करने की बात भक्ति आन्दोलन ने उठाई।

जाति प्रथा के आधार पर ईश्वर की उपासना का जो विशेष अधिकार ऊंची जाति वालों ने अपने पास रख रखा था और पुरोहित तथा क्षत्रियों की साँठ-गाँठ के आधार पर जिसे बलपूर्वक मनवाया जाता था। उसे तोड़ने का अथक प्रयास भी भक्ति आन्दोलन ने किया और कहा कि ईश्वर से तादात्म्य के लिए मनुष्य

के सद्‌गुण – प्रेम, सहिष्णुता, पवित्र हृदय, सादा-सरल जीवन और ईश्वर के प्रति अगाध विश्वास आवश्यक है न कि उसकी ऊँची जाति या ऊँचा सामाजिक, राजनैतिक या आर्थिक आधार।

धर्मनिरपेक्षता/पंथनिपेक्षता

धर्मनिरपेक्षता का मतलब यह नहीं है कि व्यक्ति किसी धर्म-विशेष से कोई सम्बन्ध न रखे। बल्कि इसका अर्थ यह है कि अपने धर्म पर निष्ठा रखते हुए भी व्यक्ति दूसरे धर्मों का सम्मान करे तथा अपनी धार्मिक निष्ठा को दूसरे धर्मों में निष्ठा रखने वालों से जुड़ने में बाधा न बने। धर्मनिरपेक्षता एक जीवन मूल्य है जिसमें सहिष्णुता का गुण समाहित है। वर्ग, वर्ण, सम्प्रदाय तथा धर्मगत बन्धनों की अवहेलना करते हुए मनुष्य मात्र को ईश्वरोपासना का समान अधिकारी घोषित भक्ति आन्दोलन ने एक ऐसी धर्मनिरपेक्ष विचारधारा को जन्म दिया, जो उस समय तो क्रांतिकारी थी ही आज भी इस विचारधारा को भारतीय समाज व्यावहारिक स्तर पर नहीं अपना पाया है। भक्ति आन्दोलन के सभी सूत्रधारों में यह जीवन-मूल्य कमोबेश पाया जाता है। कबीर ने तो मानो इस विचारधारा को जन-जन तक पहुंचाने का बीड़ा उठा रखा था। वे जानते थे कि इसे पाना आसान नहीं है और नहीं होगा तभी उन्होंने शर्त रखी, जो अपना 'सर' काटकर रखने की क्षमता रखता हो या अपना फूंकने की क्षमता रखता हो वही कबीर की इस धर्मनिरपेक्ष विचारधारा के साथ चल सकता है।

कबीरा खड़ा बाजार में, लिए लुकाठी हाथ।
जो घर जारे आपना, चले हमारे साथ॥

जायसी इस विचारधारा को साहित्यिक स्तर पर अभिव्यक्त करते हैं। अपने मजहब के प्रति ईमानदारी रखते हुए भी उन्होंने दूसरे धर्ममतों को आदर दिया और जिसे मनुष्यता का सामान्य हृदय कहते हैं, या जिसे मनुष्यत्व की सामान्य भूमि कहते हैं, उस जमीन पर, जिससे भी मिलें, मनुष्य के नाते मिलें, बिना किसी भेदभाव के।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में पहली बार अंत्यजों और पीड़ित-शोषित वर्गों ने अपने संत दिए और इन संतों ने प्रथम बार साहसपूर्वक सम्पूर्ण आस्था और विश्वास से धर्म-जाति और वर्ण-सम्प्रदायगत बन्धनों को तोड़ते हुए मानव धर्म तथा मानव संस्कृति का गान गाया।

सामाजिक उत्पीड़न और अंधविश्वासों का विरोध

भक्ति आन्दोलन ने एक लम्बी लड़ाई-अपने प्रारंभ से अंत तक-लड़ी वह थी, सामाजिक उत्पीड़न और जन सामान्य में व्याप्त अंधविश्वासों के विरुद्ध। कबीर इस युद्ध के उद्घोषक थे। उन्होंने इसे स्वयं की स्वयं को दी हुई चुनौती के रूप में स्वीकार किया और अपने तरकश के सभी तीर चलाए, तुक्का नहीं लगाया। कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि कबीर अकेले खड़े हैं सामने चुनौती झेलने वाला कोई नहीं पर लड़ाई किसी व्यक्ति या शासक के विरुद्ध नहीं थी। लड़ाई थी उस गलीच 'विचारधारा' और 'सोच' के विरुद्ध जिसके आधार पर सदियों से मानवता का शोषण किया जा रहा था उसे उत्पीड़ित किया जा रहा था और मनुष्य जिसे अपनी नियति मानकर जी रहा था। कबीर ने कहा कि 'यह हमारी नियति नहीं, हमारा शोषण है, मानवता के प्रति अभिशाप है, किसी धर्म में इसका कोई आधार नहीं है।' नियति और धर्म के नाम पर थोपे गए अंधविश्वासों को उन्होंने धर्म और ईश्वर के आधार पर ही खण्डित किया और ज्ञान का प्रकाश प्रकाशित किया। इसी कारण उन्होंने सच्चे गुरु का महत्त्व प्रतिपादित किया - 'आगे थे सतगुर मिल्या, दीया दीपक हाथ।'

सूर और तुलसी ने भी सामाजिक उत्पीड़न के विरुद्ध आवाज उठाई है। तुलसी ने कई जगह तत्कालीन अर्थव्यवस्था का चित्र अंकित किया है तथा सामाजिक जीवन की विषमताओं को रेखांकित किया है। लगता है तुलसी स्वयं सामाजिक रूप से उत्पीड़ित रहे हैं। यह पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं।

धूत कहौ अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जुलहा कहौ कोऊ,
काहू की बेटी सो बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगारिन सोऊ।
तुलसी सरनाम गलुाम है राम को, जाको रुचौ सो कहो कछु कोऊ,
माँग के खइबौ, मसीत को सोइबो, लेबे को एक न देबे को दोऊ।

या फिर सामाजिक जीवन का यह हृदय विदारक दृश्यरू

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख,
बलि, बनिक को वाणिज न, चाकर को चाकरी।
जीविका-विहीन लोग, सीद्यमान-सोच बस,
कहैं एक-एकन सौ, कहाँ जाइ, का करी।।

भक्ति आन्दोलन की उपर्युक्त प्रमुख विशेषताओं के अलावा और भी कई विशिष्टताएँ हैं- जैसे कि भक्ति आन्दोलन ने इस विचार पर जोर दिया कि भक्ति ही आराधना का उच्चतम स्वरूप है तथा बाह्याचारों, कर्मकाण्डों आदि की निंदा

तथा भर्त्सना करना। भक्त कवि आन्तरिक पवित्रता और सहज भक्ति पर जोर देते थे। मानवीय यथार्थ को सर्वोपरि मानते हुए वर्गगत, जातिगत भेदभावों तथा धर्म के नाम पर किए जाने वाले उत्पीड़न का दृढ़ विरोध। सामन्तीय मूल्यों और पुरोहितवाद की साँठ-गाँठ को और इनके द्वारा किए जाने वाले संयुक्त शोषण अत्याचारों का विरोध भी इसकी एक विशेषता थी। 'लोक संपृक्ति' इस आन्दोलन की एक उल्लेखनीय विशिष्टता है।

कबीर की भक्ति भावना

कबीर के काल में जब आम जनमानस नाना प्रचलित धर्म साधनाओं के फेर में पड़ असमंजस में था, तब कबीर ने अपनी भक्ति का ऐसा आधार जनता को दिया कि वह निर्गुण निराकार राम के रस में भाव-विह्वल हो उठी। कबीर हर धर्म की अच्छाइयों से प्रभावित हुए और हर धर्म की बुराइयों पर उन्होंने प्रहार किये और उन्हें जनचेतना के द्वारा दूर करने का प्रयास किया।

कबीर की भक्ति पर वैष्णव विचारधारा का आंशिक प्रभाव पड़ा, कबीर पर सिद्ध और नाथ पंथी योगियों का भी प्रभाव पड़ा, कबीर पर सूफी मत का भी काफी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यही नहीं कबीर पर वैदिक साहित्य का प्रभाव ही नहीं पड़ा वरन् उन्हें वैदिक साहित्य का अच्छा खासा ज्ञान भी था। उनके लिये तो आचार्य क्षितिमोहन सेन ने यह कहा है कि, "कबीर की आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्वग्रासी है। वह कुछ भी नहीं छोड़ना चाहती, इसलिये वह ग्रहणशील है, वर्जनशील नहीं, इसलिये उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, सूफी, वैष्णव, योगी प्रभृति सब साधनाओं को जोर से पकड़ रखा है।"

कबीर साहित्य के मर्मज्ञ श्री गोविन्द त्रिगुणायत लिखते हैं, "वस्तुतः कबीर ने मधुमक्खी के समान अपने समय में विद्यमान समस्त धर्म साधनाओं और निजी के योग से अपनी भक्ति का ऐसा छत्ता तैयार किया है जिसका मधु अमृतोपम है, जिसका पान कर भारतीय जन मानस कृत कृत्य हो उठा है। यह मधु अक्षुण्ण है, युगों से भारतीय इसकी मधुरिमा का रसास्वादन कर रहे हैं।"

कबीर ने अपनी भक्ति में जिस निर्गुण आराध्य का वर्णन किया है वह उपनिषदों की अद्वैती भावना के प्रभाव से प्रभावित है। कबीर की ब्रह्मभावना अधिकांश अद्वैती है, किन्तु कहीं अद्वैत से भिन्न भी है। इसलिये कबीर किसी सिद्धान्त के अनुयायी नहीं न ही प्रस्थापक हैं। उनका ब्रह्म उनके अनुभवों की देन है। कबीर पहले साधक हैं फिर कवि। वे अपनी भक्ति साधना में जिस-जिस

रूप में अपने ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं उसी रूप में उसे वर्णित करते जाते हैं। वे निज ब्रह्म विचार और आत्म साधना में विश्वास करते हैं। यही कारण है कि कबीर का ब्रह्म कभी किसी रूप में तो कभी किसी रूप में हमारे सामने आता है। यह तर्क और किसी दार्शनिक सिद्धान्त से बहुत ऊपर है, बस अनुभवों और अनुभूतियों का विषय है।

कबीर कहते हैं–

"कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूंढे बन माहिं।
ऐसे घट घट राम हैं, दुनिया देखे नाहिं।।"

वे ईश्वर की अद्वैत सत्ता को स्वीकार करते हैं। वास्तव में उनका प्रभु रोम रोम और सृष्टि के कण-कण में बसा है। वह मन में होते हुए भी दूर दिखाई देता है, किन्तु जब प्रियतम पास ही हो तो उसे संदेश भेजने की क्या आवश्यकता? इसलिये कबीर कहते हैं–

"प्रियतम को पतिया लिखूं, कहीं जो होय बिदेस।
तन में, मन में, नैन में, ताकौ कहा संदेस"

वास्तव में प्रिय के साथ इस संदेश व्यवहार को वे दिखावा मात्र मानते हैं, कृत्रिमता मानते हैं। जब ईश्वर रूपी प्रिय की सत्ता हर स्थान पर विद्यमान हो तो इस दिखावे की आवश्यकता क्या है?

"कागद लिखै सो कागदी, कि व्यवहारी जीव।
आत्म दृष्टि कहा लिखै, जित देखे तित पीव।।"

कबीर ने अपने प्रिय की उपस्थिति उसी प्रकार सर्वत्र मानी है जिस प्रकार अद्वैत भावना के पोषक प्रतिबिम्बवाद में। वे भी ईश्वर की सर्वव्यापकता को गहराई से अनुभव किया करते थे।

"ज्यूं जल में प्रतिबिम्ब, त्यूं सकल रामहि जानीजै।"

इन दोहों में प्रकाशित उनकी अद्वैत भावना के साथ यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि उनका ब्रह्म निर्गुण निराकार है।

"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, इहिं तथ कथ्यौ ज्ञानी।।"

"जाके मुंह माथा नहीं, न ही रूप सुरूप।
पुहुप बास ते पातरा ऐसा तत्त्व अनूप।।"

कबीर की निर्गुण भक्ति में साकार ब्रह्म के जो तत्त्व आ गये हैं, वे कोरे तीव्र भक्ति भावना के द्योतक नहीं हैं, अपितु जन मन में साकार स्वरूप की,

जो उपासना प्रचलित थी उसका विरोध करते हुए भी कबीर कहीं न कहीं उसके प्रभाव से बच नहीं सके हैं। वास्तव में लोक प्रचलित परम्परा कहीं न कहीं प्रतिबिम्बित हो ही जाती है। कबीर की भक्ति सरस और विलक्षण है, जिसे आप किसी सीमा में नहीं बांध सकते। कबीर ने भक्ति को मुक्ति का एकमात्र साधन माना है।

"भक्ति नसैनी मुक्ति की।"

"क्या जप क्या तप क्या संजम क्या व्रत और क्या अस्नान
जब लगी जुगत न जानिये, भाव भक्ति भगवान।।"

सर्वस्व समर्पण के साथ-साथ अपने अस्तित्त्व को साध्य में लीन करने की उत्कृष्ट भावना कबीर में परिलक्षित होती है। यही कारण है कि वे ईश्वर के गुलाम बनने में भी नहीं हिचकते।

"मैं गुलाम मोहि बेचि गुंसाई।
तन मन धन मेरा राम जी के तांई।।"

ईश्वर सामीप्य की भावना तो उनसे यह तक कहलवा लेती है ऋ

"कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाऊँ।
गले राम की जेवडी जित खैंचे तित जाऊँ।।
विरह भी कबीर की भक्ति का एक अंग है।"

"मन परतीति न प्रेम रस, ना इस तन में ढंग।
क्या जाणौ उस पीव सूं कैसी रहसि संग।।"

कबीर काव्य की यह तड़ प अद्‌भुत है। ऐसे अलौकिक प्रिय को जब आत्मा नहीं पाती तो उसके वियोग में विचलित रहती है। जब से गुरु ने उस परमात्मा का ज्ञान करवाया है, भक्त तभी से उसके लिये व्याकुल है।

"गूंगा हुआ बावला,बहरा हुआ कान।
पाँऊ थें पंगुल भया, सतगुरु मारा बान।।"

कबीर के भक्ति व्याकुल मन ने विरह का जो वर्णन किया है वह इतना मार्मिक तथा स्वाभाविक है कि लगता है कबीर का पौरुषत्व यहाँ समाप्त हो गया है और उनकी आत्मा ने स्त्री रूप में प्रियतम के लिये यह शब्द कहे हैं।

"बिरहनी उभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाई।
एक सबद कह पीव का कबर मिलेंगे आई।।"

जब भक्त का मन विरह से दग्ध हो उठता और प्रिय के वियोग में टूक-टूक हुआ जाता है तब वह विवश हो ईश्वर से यह कह बैठता है।

"कै बिरहणी कूं मीच दै, कै आपा दिखलाए।
आठ पहर का दाझणा, मो पै सहा न जाए।।"

वास्तव में यह प्रेम का चरमोत्कर्ष है, जो प्रभु प्रियतम के अभाव में भी आत्मा-परमात्मा, भक्त-भगवान के अटूट प्रेम की उद्‌घोषणा कर रहा है।

कबीर की भक्ति में निष्काम भाव है कि यदि उन्हें प्रभु प्राप्त भी हो जाएं तो उनसे वे किसी कामना सिद्धि की बात नहीं सोचते। उनकी एकमात्र कामना है–

"नैनन की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकन की चिक डारिकै, पिय को लेऊं रिझाय।।"

भक्ति में कामना के घोर विरोधी थे कबीर–

"जब लगि भगति सकामता तब लगि निष्फल सेव"

इसलिये अन्त समय में भी कबीर ने प्रभु में ध्यान लगाने की बात कही है।

"कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै बाती।
तेल घटया बाती बुझी, सोवेगा दिन राति।।"

कबीर की भक्ति में पुस्तकीय ज्ञान का कोई महत्त्व नहीं था। उनका विश्वास था कि ईश्वर में लगायी अटूट लय ही मुक्ति के लिये काफी है। भक्त के लिये तो बस इतना काफी है कि वह विषय वासनाओं से मुक्त हो ईश्वरीय प्रेम को प्राप्त करे।

"पोथि पढ पढ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का पढे सो पंडित होय।।"
"कबीर पढिवा दूर कर, पोथी देय बहाय।
बावन आखर सोध कर, रमैं ममैं चित्त लाय।।"

कबीर की भक्ति में कोई भेदभाव नहीं। भक्ति के द्वार सबके लिये खुले हैं। सबकी रचना उन्हीं पंच तत्त्वों से हुई है और सबका रचयिता वही पिता परमात्मा है।

"जाति पांति पूछै नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई।।"

कबीर के अनुसार भक्ति मार्ग पर तो एकमात्र मार्गदर्शक गुरु ही हैं। गुरु के बिना भक्ति मार्ग कौन प्रशस्त करेगा?

"सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपकार।
लोचन अनत उघाड़िया, अनत दिखावन हार।।"

उस पर साधु संगति, जिसकी महिमा का भी कोई बखान नहीं। इसे कबीर ने स्वर्ग से अधिक महत्त्व दिया है।

"राम बुलावा भेजिया, दिया कबीरा रोय।
जो सुख साधु संग में, सो बैकुंठ न होय।।"

कबीर की भक्ति अद्‌भुत है, बहुत समर्पित जो कि गंगा के समान पवित्र है, जिसके कई-कई पावन घाटों पर जाने कितने भटकते मन रूपी हिरणों को विश्रान्ति मिलती है।

कबीर के युग की राजनैतिक परिस्थितियाँ

राजनैतिक दृष्टि से कबीर का समय अराजकता का युग था। कबीर से लगभग सौ वर्ष पूर्व अलाउद्दीन खिलजी (1266-1316) के हाथों में उत्तर भारत के शासन की बागडोर थी। वह धर्मांध, कट्टर, अत्याचारी शासक था, उसने हिन्दुओं पर जजिया कर लगाया, किसानों पर इतना कर-भार लादा कि उनकी आर्थिक दशा दयनीय हो उठी। वह इतना हिन्दू विद्वेषी था कि हिन्दू न घोड़े पर बैठ कर निकल सकते थे और न अच्छे वस्त्र पहन सकते थे।

उसके बाद मुहम्मद तुगलक का राज्य रहा (1351-1376) उसने भी कर लगाये, हिन्दुओं को धर्म-परिवर्तन के लिए मजबूर किया और उनके ऐसा न करने पर उन्हें मौत के घाट उतार दिया। सन् 1398 में तैमूर लंग ने भारत पर आक्रमण किया। उसने ऐलान किया कि उसका उद्देश्य काफिरों (हिन्दुओं) को दंड देना, बहुदेववाद तथा मूर्तिपूजा को समाप्त कर गाज़ी बनाना है। उसने मंदिरों को तोड़ा, भ्रष्ट किया और बड़ी संख्या में हिन्दुओं को इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। इन आक्रमणों तथा मुस्लिम शासकों के नृशंस आचरण का परिणाम हुआ देश में दरिद्रता और निराशा का वातावरण, हिन्दू-मुसलमानों में पारस्परिक विद्वेष की भावना कायम हुई। कबीर के समय सिकंदर लोदी का शासन था। वह भी कम धर्मांध तथा हिन्दू विद्वेषी न था। मुल्ला-मौलवियों की बात मानता था। उनके बहकाने पर उसने कबीर को भी मरवा डालने की धमकी दी थी। इस सबका परिणाम हुआ-

1. विवेकपूर्ण तथा सहृदय, उदारवादी विचारधारा के लोगों द्वारा साम्प्रदायिक वैमनस्य को कम करने तथा हिन्दू-मूस्लिम सम्प्रदायों में सामंजस्य स्थापित करने तथा जातिवाद को मिटाने का प्रयास।
2. सद्‌गुणोपासना के स्थान पर निर्गुणोपासना की ओर झुकाव।

3. भक्ति-भावना का प्रसार। **आचार्य शुक्ल** ने अपने इतिहास में इसके बारे में लिखा है–

'देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देव-मंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियां तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा सकते थे, और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया, तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गये। इतने भारी राजनैतिक उलट-फेर के कारण जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी-सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था' कबीर के काव्य में ये सभी बातें मिलती हैं वह सगुण-मार्ग के उपासक न होकर निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं। यद्यपि उन्होंने राम, गोविंद, हरि आदि शब्दों का प्रयोग किया है, पर उनका आराध्य निर्गुण, निराकार ब्रह्म ही है–

राम नाम तिहुं लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना।

उनके राम दशरथ के पुत्र न होकर परम ब्रह्म हैं–

सूक्ष्म बास तैं पातरा ऐसा तत्त्व अनूप।

कबीर ने हिन्दू-मुसलमानों को उनके दोष बताकर उनमें एकता तथा भाईचारे की भावना उत्पन्न करने का प्रयास किया।

अरे इन दोउन राह न पायी।

राम और रहीम को समान बताया, सभी को परमब्रह्म की संतान कहा और मिलजुल कर रहने का आह्वान किया।

कबीर का मूल्यांकन

कबीर जो सदैव आलोचकों के केंद्र में रहे हैं। जहाँ साहित्यिक जगत में न जाने क्यों कबीर की रचनाओं को लेकर खींचतान की जा रही है। कबीर को कोई समाज सुधारक बोलता है, कोई कवि बोलता है और कोई भक्त बोलता है क्या कबीर के काव्य को विशिष्टता का रूप देना आवश्यक है।

इसे साधारण मनुष्य जीवन की अभिव्यक्ति नहीं कहा जा सकता , आधुनिक समाज क्यों कबीर मठों के नाम पर कबीर की विचारधारा को विपरीत प्रवृत्ति प्रदान कर रहा है। कबीर ना ही किसी समाज का निर्माण करना चाहते थे, ना ही अपने नाम पर मठ स्थापना करवाना चाहते थे। अपनी उस स्थिति से प्रताड़ित थे, जो अस्वीकृत रूप से उन्हें जन्म के साथ मिली। कभी-कभी आलोचक कबीर व गांधी का अध्ययन एक साथ करते हैं , यह मेरी समझ के बाहर है कि गांधी राजनीति क्षेत्र के सुधारक रहे तो कबीर से तुलना या उनकी विचारधारा से समानता कहां स्थापित होती है। मेरे अनुसार कबीर धर्म की उस प्रणाली से प्रताड़ित थे, जो समाज पर अपना पूर्ण आवरण स्थापित किए हुए थी।

एक साधारण मानव जब वैचारिक रूप से अपनी स्थिति का कारण व निवारण ज्ञात कर लेता है तथा उसे स्पष्ट कर मानव समाज को सतर्क कर देता है तो उसे क्यों कवि ,सुधारक या भक्त का रूप देकर उसकी अंधभक्ति करना आवश्यक हो जाता है। जहाँ केवल मनुष्य केंद्रित रह जाता है परंतु उसकी विचारधारा गौण रूप ले लेती है।

कबीर के विचार आज के समय में अधिक प्रासंगिक लगते हैं ,जहाँ धर्म व आडंबरों के आधार पर मानवता का गुण समाप्त हो चुका हो वहाँ आवश्यक है कि कवि को उनके दोहों के साथ याद किया जाए। उनको किसी एक परिपाटी में नहीं बल्कि एक साधारण मनुष्य की परिस्थिति, वैचारिक गुणवत्ता के आधार पर प्रस्तुत किया जाए, उनके दोहों का सार स्पष्ट किया जाए। फलतः कबीर के द्वारा प्रधान माना गया मानवता का गुण सर्वव्यापी हो सकेगा। एक भक्ति काल का समय था जब आध्यात्मिक व नैतिक विचारों की आवश्यकता समाज में संतुलन बनाने के लिए जरूरी थी, एक आज का समय है आध्यात्मिक विचार व नैतिक विचार मानवता को समाप्त करने की पृष्ठभूमि तैयार कर रहे हैं क्यों इसका मुख्य कारण वही है, जो भक्ति काल में था, तब भी मानव जाति के आध्यात्मिक नियमों का अर्थ मूल से भटक गया था और आज भी मूल अर्थ से भिन्न ही लिया जा रहा है तो आज कबीर के विचारों के आध्यात्मिक नियमों, धर्म, दर्शन व रहस्य का महत्त्व व मूल अर्थ स्पष्ट करने के लिए कबीर की वाणी की आवश्यकता है, जो दोबारा मानव मस्तिष्क को एक सकारात्मक दृष्टिकोण देने का कार्य करेगी।

5

तुलसीदास की रचनाओं में लोकजीवन

गोस्वामी तुलसीदास (अंग्रेजी: Goswami Tulsidas, जन्म- 1532 ई. - मृत्यु- 1623 ई.) हिन्दी साहित्य के आकाश के परम नक्षत्र, भक्तिकाल की सगुण धारा की रामभक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि है। तुलसीदास एक साथ कवि, भक्त तथा समाज सुधारक तीनों रूपों में मान्य है। श्रीराम को समर्पित ग्रन्थ श्रीरामचरितमानस वाल्मीकि रामायण का प्रकारान्तर से ऐसा अवधी भाषान्तर है जिसमें अन्य भी कई कृतियों से महत्त्वपूर्ण सामग्री समाहित की गयी थी। श्रीरामचरितमानस को समस्त उत्तर भारत में बड़े भक्तिभाव से पढ़ा जाता है। इसके बाद विनय पत्रिका तुलसीदासकृत एक अन्य महत्त्वपूर्ण काव्य है।

जन्म

जीवन परिचय

तुलसीदास जी का जन्म संवत् 1589 को उत्तर प्रदेश (वर्तमान बाँदा जिला) के राजापुर नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे तथा माता का नाम हुलसी था। इनका विवाह दीनबंधु पाठक की पुत्री रत्नावली से हुआ था। अपनी पत्नी रत्नावली से अत्याधिक प्रेम के कारण तुलसी को

रत्नावली की फटकार 'लाज न आई आपको दौरे आएहु नाथ' सुननी पड़ी जिससे इनका जीवन ही परिवर्तित हो गया। पत्नी के उपदेश से तुलसी के मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। इनके गुरु बाबा नरहरिदास थे, जिन्होंने इन्हें दीक्षा दी। इनका अधिकाँश जीवन चित्रकूट, काशी तथा अयोध्या में बीता।

तुलसीदास

तुलसी का बचपन बड़े कष्टों में बीता। माता-पिता दोनों चल बसे और इन्हें भीख मांगकर अपना पेट पालना पड़ा था। इसी बीच इनका परिचय राम-भक्त साधुओं से हुआ और इन्हें ज्ञानार्जन का अनुपम अवसर मिल गया। पत्नी के व्यंग्य बाणों से विरक्त होने की लोक प्रचलित कथा को कोई प्रमाण नहीं मिलता। तुलसी भ्रमण करते रहे और इस प्रकार समाज की तत्कालीन स्थिति से इनका सीधा संपर्क हुआ। इसी दीर्घकालीन अनुभव और अध्ययन का परिणाम तुलसी की अमूल्य कृतियां हैं, जो उस समय के भारतीय समाज के लिए तो उन्नायक सिद्ध हुई ही, आज भी जीवन को मर्यादित करने के लिए उतनी ही उपयोगी हैं। तुलसीदास द्वारा रचित ग्रंथों की संख्या 39 बताई जाती है। इनमें रामचरित मानस, कवितावली, विनय पत्रिका, दोहावली, गीतावली, जानकी मंगल, हनुमान चालीसा, बरवै रामायण आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

शिष्य परम्परा

गोस्वामी जी श्रीसम्प्रदाय के आचार्य रामानन्द की शिष्य परम्परा में थे। इन्होंने समय को देखते हुए लोकभाषा में 'रामायण' लिखा। इसमें ब्याज से वर्णाश्रम धर्म, अवतारवाद, साकार उपासना, सगुणवाद, गो-ब्राह्मण रक्षा, देवादि विविध योनियों का यथोचित् सम्मान एवं प्राचीन संस्कृति और वेदमार्ग का मण्डन और साथ ही उस समय के विधर्मी अत्याचारों और सामाजिक दोषों की एवं पन्थवाद की आलोचना की गयी है। गोस्वामी जी पन्थ व सम्प्रदाय चलाने के विरोधी थे। उन्होंने व्याज से भ्रातृप्रेम, स्वराज्य के सिद्धान्त , रामराज्य का आदर्श, अत्याचारों से बचने और शत्रु पर विजयी होने के उपाय, सभी राजनीतिक बातें खुले शब्दों में उस कड़ी जासूसी के जमाने में भी बतलायीं, परन्तु उन्हें राज्याश्रय प्राप्त न था। लोगों ने उनको समझा नहीं। रामचरितमानस का राजनीतिक उद्देश्य सिद्ध नहीं हो पाया। इसीलिए उन्होंने झुँझलाकर कहा–

गोस्वामी तुलसीदास

'रामायण अनुहरत सिख, जग भई भारत रीति।
तुलसी काठहि को सुनै, कलि कुचालि पर प्रीति।'

आदर्श सन्त कवि

उनकी यह अद्‌भुत पोथी इतनी लोकप्रिय है कि मूर्ख से लेकर महापण्डित तक के हाथों में आदर से स्थान पाती है। उस समय की सारी शंकाओं का रामचरितमानस में उत्तर है। अकेले इस ग्रन्थ को लेकर यदि गोस्वामी तुलसीदास चाहते तो अपना अत्यन्त विशाल और शक्तिशाली सम्प्रदाय चला सकते थे। यह एक सौभाग्य की बात है कि आज यही एक ग्रन्थ है, जो साम्प्रदायिकता की सीमाओं को लाँघकर सारे देश में व्यापक और सभी मत-मतान्तरों को पूर्णतया मान्य है। सबको एक सूत्र में ग्रंथित करने का, जो काम पहले शंकराचार्य स्वामी ने किया, वही अपने युग में और उसके पीछे आज भी गोस्वामी तुलसीदास ने किया। रामचरितमानस की कथा का आरम्भ ही उन शंकाओं से होता है, जो कबीरदास की साखी पर पुराने विचार वालों के मन में उठती हैं। तुलसीदास जी स्वामी रामानन्द की शिष्य परम्परा में थे, जो रामानुजाचार्य के विशिष्टद्वैत सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त है। परन्तु गोस्वामी जी की प्रवृत्ति साम्प्रदायिक न थी। उनके ग्रन्थों में अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का सुन्दर समन्वय पाया जाता है। इसी प्रकार वैष्णव, शैव, शाक्त आदि साम्प्रदायिक भावनाओं और पूजा पद्धतियों का समन्वय भी उनकी रचनाओं में पाया जाता है। वे आदर्श समुच्चयवादी सन्त कवि थे।

प्रखर बुद्धि के स्वामी

रामचरितमानस

भगवान शंकर जी की प्रेरणा से रामशैल पर रहने वाले श्री अनन्तानन्द जी के प्रिय शिष्य श्रीनरहर्यानन्द जी (नरहरि बाबा) ने इस बालक को ढूँढ़ निकाला और उसका नाम रामबोला रखा। उसे वे अयोध्या ले गये और वहाँ संवत् 1561 माघ शुक्ल पंचमी शुक्रवार को उसका यज्ञोपवीत-संस्कार कराया। बिना सिखाये ही बालक रामबोला ने गायत्री-मन्त्र का उच्चारण किया, जिसे देखकर सब लोग चकित हो गये। इसके बाद नरहरि स्वामी ने वैष्णवों के पाँच संस्कार करके रामबोला को राममन्त्र की दीक्षा दी और अयोध्या ही में रहकर उन्हें विद्याध्ययन

कराने लगे। बालक रामबोला की बुद्धि बड़ी प्रखर थी। एक बार गुरुमुख से जो सुन लेते थे, उन्हें वह कंठस्थ हो जाता था। वहाँ से कुछ दिन बाद गुरु-शिष्य दोनों शूकरक्षेत्र (सोरों) पहुँचे। वहाँ श्री नरहरि जी ने तुलसीदास को रामचरित सुनाया। कुछ दिन बाद वह काशी चले आये। काशी में शेषसनातन जी के पास रहकर तुलसीदास ने पन्द्रह वर्ष तक वेद-वेदांग का अध्ययन किया। इधर उनकी लोकवासना कुछ जाग्रत हो उठी और अपने विद्या गुरु से आज्ञा लेकर वे अपनी जन्मभूमि को लौट आये। वहाँ आकर उन्होंने देखा कि उनका परिवार सब नष्ट हो चुका है। उन्होंने विधिपूर्वक अपने पिता आदि का श्राद्ध किया और वहीं रहकर लोगों को भगवान राम की कथा सुनाने लगे।

ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी, गुरुवार, संवत् 1583 को 29 वर्ष की आयु में राजापुर से थोड़ी ही दूर यमुना के उस पार स्थित एक गाँव की अति सुन्दरी भारद्वाज गोत्र की कन्या रत्नावली के साथ उनका विवाह हुआ। चूँकि गौना नहीं हुआ था, अतः कुछ समय के लिये वे काशी चले गये और वहाँ शेषसनातन जी के पास रहकर वेद-वेदांग के अध्ययन में जुट गये। वहाँ रहते हुए अचानक एक दिन उन्हें अपनी पत्नी की याद आयी और वे व्याकुल होने लगे। जब नहीं रहा गया तो गुरुजी से आज्ञा लेकर वे अपनी जन्मभूमि राजापुर लौट आये। पत्नी रत्नावली चूँकि मायके में ही थी क्योंकि तब तक उनका गौना नहीं हुआ था, अतः तुलसीराम ने भयंकर अँधेरी रात में उफनती यमुना नदी तैरकर पार की और सीधे अपनी पत्नी के शयन-कक्ष में जा पहुँचे। रत्नावली इतनी रात गये अपने पति को अकेले आया देख कर आश्चर्यचकित हो गयी। उसने लोक-लज्जा के भय से जब उन्हें चुपचाप वापस जाने को कहा तो वे उससे उसी समय घर चलने का आग्रह करने लगे। उनकी इस अप्रत्याशित जिद से खीझकर रत्नावली ने स्व-रचित एक दोहे के माध्यम से, जो शिक्षा उन्हें दी उसने ही तुलसीराम को तुलसीदास बना दिया। रत्नावली ने जो दोहा कहा था वह इस प्रकार है–

अस्थि चर्म मय देह यह, ता सों ऐसी प्रीति !
नेकु जो होती राम से, तो काहे भव-भीत?

यह दोहा सुनते ही उन्होंने उसी समय पत्नी को वहीं उसके पिता के घर छोड़ दिया और वापस अपने गाँव राजापुर लौट गये। राजापुर में अपने घर जाकर जब उन्हें यह पता चला कि उनकी अनुपस्थिति में उनके पिता भी नहीं रहे और पूरा घर नष्ट हो चुका है तो उन्हें और भी अधिक कष्ट हुआ। उन्होंने

विधि-विधान पूर्वक अपने पिता जी का श्राद्ध किया और गाँव में ही रहकर लोगों को भगवान राम की कथा सुनाने लगे।

श्रीराम से भेंट

कुछ काल राजापुर में रहने के बाद वे पुनः काशी चले गये और वहाँ की जनता को राम-कथा सुनाने लगे। कथा के दौरान उन्हें एक दिन मनुष्य के वेष में एक प्रेत मिला, जिसने उन्हें हनुमान जी का पता बतलाया। हनुमान जी से मिलकर तुलसीदास ने उनसे श्रीरघुनाथ जी का दर्शन कराने की प्रार्थना की। हनुमान जी ने कहा- तुम्हें चित्रकूट में रघुनाथ जी के दर्शन होंगें। इस पर तुलसीदास जी चित्रकूट की ओर चल पड़े।

चित्रकूट पहुँच कर उन्होंने रामघाट पर अपना आसन जमाया। एक दिन वे प्रदक्षिणा करने निकले ही थे कि यकायक मार्ग में उन्हें श्रीराम के दर्शन हुए। उन्होंने देखा कि दो बड़े ही सुन्दर राजकुमार घोड़ों पर सवार होकर धनुष-बाण लिये जा रहे हैं। तुलसीदास उन्हें देखकर आकर्षित तो हुए, परन्तु उन्हें पहचान न सके। तभी पीछे से हनुमान जी ने आकर जब उन्हें सारा भेद बताया तो वे पश्चाताप करने लगे। इस पर हनुमान जी ने उन्हें सांत्वना दी और कहा प्रातःकाल फिर दर्शन होंगे।

संवत् 1607 की मौनी अमावस्या को बुधवार के दिन उनके सामने भगवान श्रीराम पुनः प्रकट हुए। उन्होंने बालक रूप में आकर तुलसीदास से कहा-'बाबा! हमें चन्दन चाहिये क्या आप हमें चन्दन दे सकते हैं? हनुमान जी ने सोचा, कहीं वे इस बार भी धोखा न खा जायें, इसलिये उन्होंने तोते का रूप धारण करके यह दोहा कहा–

चित्रकूट के घाट पर, भइ सन्तन की भीर।
तुलसीदास चन्दन घिसें, तिलक देत रघुबीर।।

तुलसीदास श्रीराम जी की उस अद्‌भुत छवि को निहार कर अपने शरीर की सुध-बुध ही भूल गये। अन्ततोगत्वा भगवान ने स्वयं अपने हाथ से चन्दन लेकर अपने तथा तुलसीदास जी के मस्तक पर लगाया और अन्तर्ध्यान हो गये।

संस्कृत में पद्य-रचना

संवत् 1628 में वह हनुमान जी की आज्ञा लेकर अयोध्या की ओर चल पड़े। उन दिनों प्रयाग में माघ मेला लगा हुआ था। वे वहाँ कुछ दिन के लिये

ठहर गये। पर्व के छः दिन बाद एक वटवृक्ष के नीचे उन्हें भारद्वाज और याज्ञवल्क्य मुनि के दर्शन हुए। वहाँ उस समय वही कथा हो रही थी, जो उन्होंने सूकर क्षेत्र में अपने गुरु से सुनी थी। माघ मेला समाप्त होते ही तुलसीदास जी प्रयाग से पुनः वापस काशी आ गये और वहाँ के प्रह्लादघाट पर एक ब्राह्मण के घर निवास किया। वहीं रहते हुए उनके अन्दर कवित्व-शक्ति का प्रस्फुरण हुआ और वे संस्कृत में पद्य-रचना करने लगे। परन्तु दिन में वे जितने पद्य रचते, रात्रि में वे सब लुप्त हो जाते। यह घटना रोज घटती। आठवें दिन तुलसीदास जी को स्वप्न हुआ। भगवान शंकर ने उन्हें आदेश दिया कि तुम अपनी भाषा में काव्य रचना करो। तुलसीदास जी की नींद उचट गयी। वे उठकर बैठ गये। उसी समय भगवान शिव और पार्वती उनके सामने प्रकट हुए। तुलसीदास जी ने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। इस पर प्रसन्न होकर शिव जी ने कहा- तुम अयोध्या में जाकर रहो और हिन्दी में काव्य-रचना करो। मेरे आशीर्वाद से तुम्हारी कविता सामवेद के समान फलवती होगी। इतना कहकर गौरीशंकर अन्तर्ध्यान हो गये। तुलसीदास जी उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर काशी से सीधे अयोध्या चले गये।

रामचरितमानस की रचना

रामचरितमानस की रचना कवि तुलसीदास ने की है। रामचरितमानस अवधी भाषा में लिखी गयी है। तुलसीदास संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे पर उन्हें भगवान राम की कहानी आम जनता तक पहुँचानी थी इसलिए उन्होंने ये महाकाव्य अवधी भाषा में लिखा। रामलीला मानाने की परंपरा भी रामचरितमानस से शुरू हुई है। तुलसीदास चाहते थे की वेद, पुराण और उपनिषदों में जो ज्ञान है वो आम आदमी भी समझे इसलिए वह अवधी भाषा में लिखते थे। उनकी वजह से आम आदमी तक रामायण का ज्ञान पहुँच सका। रामचरितमानस हिंदी साहित्य की सबसे महान रचनाओं में से एक है। रामचरितमानस वाल्मीकि की लिखी रामायण की प्रतिलिपि नहीं बल्कि तुलसीदास बाकि संस्कृत ग्रंथों और पुराणों में जो राम की कहानी लिखी गयी है उन्हें भी रामचरितमानस में शामिल करते हैं। तुलसीदास ने 1631 में रामचरित मानस लिखना शुरू किया। रामचरितमानस अयोध्या, वाराणसी और चित्रकूट में लिखी गयी है। तुलसीदास के हिसाब से रामचरिमानस वह कहानी है, जो शिव ने पार्वती को सुनाई। रामचरितमानस में 7 कांड हैं। कांडों के नाम हैं: बाल कांड, अयोध्या कांड,

अरण्य कांड, किष्किंधा कांड, सुन्दर कांड, लंका कांड और उत्तर कांड। लव कुश कांड को रामचरितमानस का भाग नहीं मानते हैं। रामचरितमानस सिर्फ भगवान राम की कहानी है और इसलिए लव कुश कांड रामचरितमानस में गिना नहीं जाता।संवत् 1631 का प्रारम्भ हुआ। दैवयोग से उस वर्ष रामनवमी के दिन वैसा ही योग आया जैसा त्रोतायुग में राम-जन्म के दिन था। उस दिन प्रात:काल तुलसीदास जी ने श्रीरामचरितमानस की रचना प्रारम्भ की। दो वर्ष, सात महीने और छ्ब्बीस दिन में यह अद्भुत ग्रन्थ सम्पन्न हुआ। संवत् 1633 के मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष में राम-विवाह के दिन सातों काण्ड पूर्ण हो गये।

इसके बाद भगवान की आज्ञा से तुलसीदास जी काशी चले आये। वहाँ उन्होंने भगवान् विश्वनाथ और माता अन्नपूर्णा को श्रीरामचरितमानस सुनाया। रात को पुस्तक विश्वनाथ-मन्दिर में रख दी गयी। प्रात:काल जब मन्दिर के पट खोले गये तो पुस्तक पर लिखा हुआ पाया गया-सत्यं शिवं सुन्दरम् जिसके नीचे भगवान् शंकर की सही (पुष्टि) थी। उस समय वहाँ उपस्थित लोगों ने सत्यं शिवं सुन्दरम् की आवाज भी कानों से सुनी।

इधर काशी के पण्डितों को जब यह बात पता चली तो उनके मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। वे दल बनाकर तुलसीदास जी की निन्दा और उस पुस्तक को नष्ट करने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने पुस्तक चुराने के लिये दो चोर भी भेजे। चोरों ने जाकर देखा कि तुलसीदास जी की कुटी के आस-पास दो युवक धनुषबाण लिये पहरा दे रहे हैं। दोनों युवक बड़े ही सुन्दर क्रमश: श्याम और गौर वर्ण के थे। उनके दर्शन करते ही चोरों की बुद्धि शुद्ध हो गयी। उन्होंने उसी समय से चोरी करना छोड़ दिया और भगवान के भजन में लग गये। तुलसीदास जी ने अपने लिये भगवान को कष्ट हुआ जान कुटी का सारा समान लुटा दिया और पुस्तक अपने मित्र टोडरमल (अकबर के नौरत्नों में एक) के यहाँ रखवा दी। इसके बाद उन्होंने अपनी विलक्षण स्मरण शक्ति से एक दूसरी प्रति लिखी। उसी के आधार पर दूसरी प्रतिलिपियाँ तैयार की गयीं और पुस्तक का प्रचार दिनों-दिन बढ़ने लगा।

इधर काशी के पण्डितों ने और कोई उपाय न देख श्री मधुसूदन सरस्वती नाम के महापण्डित को उस पुस्तक को देखकर अपनी सम्मति देने की प्रार्थना की। मधुसूदन सरस्वती जी ने उसे देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और उस पर अपनी ओर से यह टिप्पणी लिख दी-

आनन्दकानने ह्यास्मिर्जङ्गमस्तुलसीतरुः।
कवितामंजरी भाति रामभ्रमरभूषिता॥

इसका हिन्दी में अर्थ इस प्रकार है–'काशी के आनन्द-वन में तुलसीदास साक्षात् चलता-फिरता तुलसी का पौधा है। उसकी काव्य-मंजरी बड़ी ही मनोहर है, जिस पर श्रीराम रूपी भँवरा सदा मँडराता रहता है।

पण्डितों को उनकी इस टिप्पणी पर भी संतोष नहीं हुआ। तब पुस्तक की परीक्षा का एक अन्य उपाय सोचा गया। काशी के विश्वनाथ-मन्दिर में भगवान विश्वनाथ के सामने सबसे ऊपर वेद, उनके नीचे शास्त्र, शास्त्रों के नीचे पुराण और सबके नीचे रामचरितमानस रख दिया गया। प्रातःकाल जब मन्दिर खोला गया तो लोगों ने देखा कि श्रीरामचरितमानस वेदों के ऊपर रखा हुआ है। अब तो सभी पण्डित बड़े लज्जित हुए। उन्होंने तुलसीदास जी से क्षमा माँगी और भक्ति-भाव से उनका चरणोदक लिया।

मृत्यु

तुलसीदास जी जब काशी के विख्यात् घाट असीघाट पर रहने लगे तो एक रात कलियुग मूर्त रूप धारण कर उनके पास आया और उन्हें पीड़ा पहुँचाने लगा। तुलसीदास जी ने उसी समय हनुमान जी का ध्यान किया। हनुमान जी ने साक्षात् प्रकट होकर उन्हें प्रार्थना के पद रचने को कहा, इसके पश्चात् उन्होंने अपनी अन्तिम कृति विनय-पत्रिाका लिखी और उसे भगवान के चरणों में समर्पित कर दिया। श्रीराम जी ने उस पर स्वयं अपने हस्ताक्षर कर दिये और तुलसीदास जी को निर्भय कर दिया। संवत् 1680 में श्रावण कृष्ण तृतीया शनिवार को तुलसीदास जी ने राम-राम कहते हुए अपना शरीर परित्याग किया।

तुलसी-स्तवन

जी ने पूछा- प्रभो! तुलसी भगवान नारायण की प्रिया हैं, इसलिये परम पवित्र हैं। अतएव वे सम्पूर्ण जगत के लिए पूजनीया हैं, परंतु इनकी पूजा का क्या विधान है और इनकी स्तुति के लिये कौन-सा स्तोत्र है? यह मैंने अभी तक नहीं सुना है। किस मन्त्र से उनकी पूजा होनी चाहिये? सबसे पहले किसने तुलसी की स्तुति की है? किस कारण से वह आपके लिये भी पूजनीया हो गयीं? अहो! ये सब बातें आप मुझे बताइये। सूत जी कहते हैं- नारद की बात सुनकर भगवान नारायण का मुखमण्डल प्रसन्नता से खिल उठा। उन्होंने पापों का ध्वंस करने

वाली परम पुण्यमयी प्राचीन कथा कहनी आरम्भ कर दी। भगवान नारायण बोले- मुने! भगवान श्रीहरि तुलसी को पाकर उसके और लक्ष्मी के साथ आनन्द करने लगे। उन्होंने तुलसी को भी गौरव तथा सौभाग्य में लक्ष्मी के समान बना दिया। लक्ष्मी और गंगा ने तो तुलसी के नव-संगम, सौभाग्य और गौरव को सह लिया, किंतु सरस्वती क्रोध के कारण यह सब सहन न कर सकीं। सरस्वती के द्वारा अपना अपमान होने से तुलसी अन्तर्धान हो गयीं। ज्ञान-सम्पन्ना देवी तुलसी सिद्धयोगिनी एवं सर्वसिद्धेश्वरी थीं, अतः उन्होंने श्रीहरि की आँखों से अपने को सर्वत्र ओझल कर लिया। भगवान ने उसे न देखकर सरस्वती को समझाया और उससे आज्ञा लेकर वे तुलसी वन में गये।

लक्ष्मीबीजश्रीं, मायाबीजह्रीं , कामबीजक्लीं, वाणीबीजऐं, इन बीजों का पूर्व में उच्चारण करके 'वृन्दावनी' इस शब्द के अन्त में, विभक्ति लगायी अन्त में वह्निजायास्वाहा,, का प्रयोग करके 'श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं वृन्दावन्यै स्वाहा' इस दशाक्षर-मन्त्र का उच्चारण किया। नारद! यह मन्त्रराज कल्पतरु है। जो इस मन्त्र का उच्चारण करके विधि पूर्वक तुलसी की पूजा करता है, उसे निश्चय ही सम्पूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। घृत का दीपक, धूप, सिन्दूर, चन्दन, नैवेद्य और पुष्प आदि उपचारों से तथा स्तोत्र द्वारा भगवान से सुपूजित होने पर तुलसी को बड़ी प्रसन्नता हुई, अतः वह वृक्ष से तुरंत बाहर निकल आयी और परम प्रसन्न होकर भगवान श्रीहरि के चरण कमलों की शरण में चली गयी। तब भगवान ने उसे वर दिया- ----- 'देवी! तुम सर्वपूज्या हो जाओ। मैं स्वयं तुम्हें अपने मस्तक तथा वक्षःस्थल पर धारण करूँगा। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण देवता तुम्हें अपने मस्तक पर धारण करेंगे।' यों कहकर उसे साथ ले भगवान श्रीहरि अपने स्थान पर लौट आये। भगवान नारायण कहते हैं- मुने! तुलसी के अन्तर्ध्यान हो जाने पर भगवान श्रीहरि विरह से आतुर होकर वृन्दावन चले गये थे और वहाँ जाकर उन्होंने तुलसी की पूजा करके इस प्रकार स्तुति की थी।

श्री भगवान बोले- जब वृन्दा तुलसी, रूप वृक्ष तथा दूसरे वृक्ष एकत्र होते हैं, तब वृक्ष समुदाय अथवा वन को बुधजन 'वृन्दा' कहते हैं। ऐसी वृन्दा नाम से प्रसिद्ध अपनी प्रिया तुलसी की मैं उपासना करता हूँ। जो देवी प्राचीन काल में वृन्दावन में प्रकट हुई थी, अतएव जिसे 'वृन्दावनी' कहते हैं, उस सौभाग्यवती देवी की मैं उपासना करता हूँ। जो असंख्य वृक्षों में निरन्तर पूजा प्राप्त करती है, अतः जिसका नाम 'विश्वपूजिता' पड़ा है, उस जगतपूज्या देवी की मैं उपासना करता हूँ। देवि! जिसने सदा अनन्त विश्वों को पवित्र किया है, उस 'विश्वपावनी'

देवी का मैं विरह से आतुर होकर स्मरण करता हूँ। जिसके बिना अन्य पुष्प-समूहों के अर्पण करने पर भी देवता प्रसन्न नहीं होते, ऐसी 'पुष्पसारा'-पुष्पों में सारभूता शुद्ध स्वरूपिणी तुलसी देवी का मैं शोक से व्याकुल होकर दर्शन करना चाहता हूँ। संसार में जिसकी प्राप्ति मात्र से भक्त परम आनन्दित हो जाता है, इसलिये 'नन्दिनी' नाम से जिसकी प्रसिद्धि है, वह भगवती तुलसी अब मुझ पर प्रसन्न हो जाये। जिस देवी की अखिल विश्व में कहीं तुलना नहीं है, अतएव जो 'तुलसी' कहलाती है, उस अपनी प्रिया की मैं शरण ग्रहण करता हूँ। वह साध्वी तुलसी वृन्दा रूप से भगवान श्रीकृष्ण की जीवनस्वरूपा है और उनकी सदा प्रियतमा होने से 'कृष्ण जीवनी' नाम से विख्यात है।

वह देवी तुलसी मेरे जीवन की रक्षा करे। नारायण उवाच-अन्तर्हितायां तस्यां च गत्वा च तुलसीवनम्। हरिः सम्पूज्य तुष्टाव तुलसीं विरहातुरः।। श्रीभगवानुवाच-वृन्दाः पाश्च वृक्षाश्च यदैकत्र भवन्ति च। विदुर्बुधास्तेन वृन्दां मत्प्रियां तां भजाम्यहम्। पुरा बभूव या देवी त्वादौ वृन्दावने वने। तेन वृन्दावनी ख्याता सौभाग्यां तां भजाम्यहम्। असंख्येषु च विश्वेषु पूजिता या निरन्तरम। तेन विश्वपूजिताख्यां जगत्पूज्यां भजाम्यहम्। असंख्यानि च विश्वानि पवित्रणि यया सदा। तां विश्वपावनीं देवीं विरहेण स्मराम्यहम्। देवा न तुष्टाः पुष्पाणां समूहेन यया विना। तां पुष्पसारां शुद्धां च द्रष्टुमिच्छामि शोकतः।। विश्वे यत्प्राप्तिमात्रेण भक्तानन्दो भवेद् ध्रुवम् नन्दिनी तेन विख्याता सा प्रीता भवताद्धि मे।। यस्या देव्यास्तुला नास्ति विश्वेषु निखिलेषु च। तुलसी तेन विख्याता तां यामि शरणं प्रियाम्। कृष्णजीवनरूपा या शश्वत्प्रियतमा सती। तेन कृष्णजीवनीति मम रक्षतु जीवनम्। इस प्रकार स्तुति करके लक्ष्मीकान्त भगवान श्रीहरि वहीं बैठ गये। इतने में उनके सामने साक्षात् तुलसी प्रकट हो गयी।

उस साध्वी ने उनके चरणों में तुरंत मस्तक झुका दिया। अपमान के कारण उस मानिनी की आँखों से आँसू बह रहे थे, क्योंकि पहले उसे बड़ा सम्मान मिल चुका था। ऐसी प्रिया तुलसी को देखकर प्रियतम भगवान श्रीहरि ने तुरंत उसे अपने हृदय में स्थान दिया। साथ ही सरस्वती से आज्ञा लेकर उसे अपने महल ले गये। उन्होंने शीघ्र ही सरस्वती के साथ तुलसी का प्रेम स्थापित करवाया। साथ ही भगवान ने तुलसी को वर दिया- 'देवि! तुम सर्वपूज्या और शिरोधार्या होओ। सब लोग तुम्हारा आदर एवं सम्मान करें।' भगवान विष्णु के इस प्रकार कहने पर वह देवी परम संतुष्ट हो गयी। सरस्वती ने उसे हृदय से लगाया और अपने पास बैठा लिया। नारद! लक्ष्मी और गंगा इन दोनों देवियों ने मन्द मुस्कान के साथ

विनयपूर्वक साध्वी तुलसी का हाथ पकड़कर उसे भवन में प्रवेश कराया। वृन्दा, वृन्दावनी, विश्वपूजिता, विश्वपावनी, पुष्पसारा, नन्दिनी, तुलसी और कृष्णजीवनी– ये देवी तुलसी के आठ नाम हैं। यह सार्थक नामावली स्तोत्र के रूप में परिणत है। जो पुरुष तुलसी की पूजा करके इस 'नामाष्टक' का पाठ करता है, उसे अश्वमेध–यज्ञ का फल प्राप्त हो जाता है।

वृन्दा वृन्दावनी विश्वपूजिता विश्वपावनी। पुष्पसारा नन्दिनी च तुलसी कृष्णजीवनी।। एतन्नामाष्टकं चौव स्तोत्रं नामार्थसंयुतम्। यः पठेत् तां च सम्पूज्य सो श्वमेधफलं लभेत्। कार्तिक की पूर्णिमा तिथि को देवी तुलसी का मंगलमय प्राकट्य हुआ और सर्वप्रथम भगवान श्रीहरि ने उसकी पूजा सम्पन्न की। जो इस कार्तिकी पूर्णिमा के अवसर पर विश्वपावनी तुलसी की भक्तिभाव से पूजा करता है, वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर भगवान विष्णु के लोक में चला जाता है। जो कार्तिक महीने में भगवान विष्णु को तुलसी–पत्र अर्पण करता है, वह दस हजार गोदान का फल निश्चित रूप से पा जाता है। इस तुलसी नामाष्टक के स्मरण मात्र से संतानहीन पुरुष पुत्रवान बन जाता है। जिसे पत्नी न हो, उसे पत्नी मिल जाती है तथा बन्धुहीन व्यक्ति बहुत–से बान्धवों को प्राप्त कर लेता है। इसके स्मरण से रोगी रोगमुक्त हो जाता है, बन्धन में पड़ा हुआ व्यक्ति छुटकारा पा जाता है, भयभीत पुरुष निर्भय हो जाता है और पापी पापों से मुक्त हो जाता है। नारद! यह तुलसी–स्तोत्र बतला दिया।?

अब ध्यान और पूजा–विधि सुनो--------- तुम तो इस ध्यान को जानते ही हो। वेद की कण्व–शाखा में इसका प्रतिपादन हुआ है। ध्यान में सम्पूर्ण पापों को नष्ट करने की अबाध शक्ति है। ध्यान करने के पश्चात् बिना आवाहन किये भक्तिपूर्वक तुलसी के वृक्ष में 'शोडशोपचार से इस देवी की पूजा करनी चाहिये। परम साध्वी तुलसी पुष्पों में सार हैं। ये पूजनीया तथा मनोहारिणी हैं। सम्पूर्ण पापरूपी ईंधन को भस्म करने के लिये ये प्रज्ज्वलित अग्नि की लपट के समान हैं। पुष्पों में अथवा देवियों में किसी से भी इनकी तुलना नहीं हो सकी। इसीलिये उन सबमें पवित्ररूपा इन देवी को तुलसी कहा गया। ये सबके द्वारा अपने मस्तक पर धारण करने योग्य हैं। सभी को इन्हें पाने की इच्छा रहती है। विश्व को पवित्र करने वाली ये देवी जीवनमुक्त हैं। मुक्ति और भगवान श्रीहरि की भक्ति प्रदान करना इनका स्वभाव है। ऐसी भगवती तुलसी की मैं उपासना करता हूँ----- तुलसीं पुष्पसारां च सतीं पूज्यां मनोहराम् कृत्स्नपापेध्मदाहाय ज्वलदग्निशिखोपमाम्।। पुष्पेषु तुलनाप्यस्या नासीद् देवीषु वा मुने। पवित्ररूपा

सर्वासु तुलसी सा च कीर्तिता।। शिरोधार्या च सर्वेषामीप्सितां विश्वपावनीम्। जीवन्मुक्तां मुक्तिदां च भजे तां हरिभक्तिदाम। विद्वान पुरुष इस प्रकार ध्यान, पूजन और स्तवन करके देवी तुलसी को प्रणाम करे।।

तुलसीदास की रचनाएँ

अपने दीर्घ जीवन-काल में तुलसीदास ने कालक्रमानुसार निम्नलिखित काल जयी ग्रन्थों की रचनाएं कीं - रामललानहछू, वैराग्यसंदीपनी, रामाज्ञाप्रश्न, जानकी-मंगल, रामचरितमानस, सतसई, पार्वती-मंगल, गीतावली, विनय-पत्रिका, कृष्ण-गीतावली, बरवै रामायण, दोहावली और कवितावली (बाहुक सहित)। इनमें से रामचरितमानस, विनयपत्रिका, कवितावली, गीतावली जैसी कृतियों के विषय में यह आर्षवाणी सही घटित होती है - "पश्य देवस्य काव्यं, न ममार न जीर्यति।

गोस्वामी तुलसीदास की प्रामाणिक रचनाएं

लगभग चार सौ वर्ष पूर्व गोस्वामी जी ने अपने काव्यों की रचना की। आधुनिक प्रकाशन-सुविधाओं से रहित उस काल में भी तुलसीदास का काव्य जन-जन तक पहुंच चुका था। यह उनके कवि रूप में लोकप्रिय होने का प्रमाण है। मानस के समान दीर्घकाय ग्रंथ को कंठाग्र करके सामान्य पढ़े लिखे लोग भी अपनी शुचिता एवं ज्ञान के लिए प्रसिद्ध हो जाने लगे थे।

रामचरितमानस गोस्वामी जी का सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रंथ रहा है। तुलसीदास ने अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में कहीं उल्लेख नहीं किया है, इसलिए प्रामाणिक रचनाओं के संबंध में अंतः साक्ष्य का अभाव दिखाई देता है। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित ग्रंथ इस प्रकार हैं:-

1. रामचरितमानस
2. रामललानहछू
3. वैराग्य-संदीपनी
4. बरवै रामायण
5. पार्वती-मंगल
6. जानकी-मंगल
7. रामाज्ञाप्रश्न
8. दोहावली

9. कवितावली
10. गीतावली
11. श्रीकृष्ण-गीतावली
12. विनयपत्रिका
13. सतसई
14. छंदावली रामायण
15. कुंडलिया रामायण
16. राम शलाका
17. संकट मोचन
18. करखा रामायण
19. रोला रामायण
20. झूलना
21. छप्पय रामायण
22. कवित्त रामायण
23. कलिधर्माधर्म निरुपण

एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एंड एथिक्स में ग्रियर्सन महोदय ने भी उपरोक्त प्रथम बारह ग्रंथों का उल्लेख किया है।

कुछ ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण

रामललानहछू

यह संस्कार गीत है। इस गीत में कतिपय उल्लेख राम-विवाह की कथा से भिन्न हैं।

गोद लिहैं कौशल्या बैठि रामहिं वर हो।
सोभित दूलह राम सीस, पर आंचर हो।।

वैराग्य संदीपनी

वैराग्य संदीपनी को माताप्रसाद गुप्त ने अप्रामाणिक माना है, पर आचार्य चंद्रवली पांडे इसे प्रामाणिक और तुलसी की आरंभिक रचना मानते हैं। कुछ और प्राचीन प्रतियों के उपलब्ध होने से ठोस प्रमाण मिल सकते हैं। संत महिमा वर्णन का पहला सोरठा पेश है–

को बरनै मुख एक, तुलसी महिमा संत।
जिन्हके विमल विवेक, सेष महेस न कहि सकत॥

बरवै रामायण

विद्वानों ने इसे तुलसी की रचना घोषित किया है। शैली की दृष्टि से यह तुलसीदास की प्रामाणिक रचना है। इसकी खंडित प्रति ही ग्रंथावली में संपादित है।

पार्वती-मंगल

यह तुलसी की प्रामाणिक रचना प्रतीत होती है। इसकी काव्यात्मक प्रौढ़ता तुलसी सिद्धांत के अनुकूल है। कविता सरल, सुबोध, रोचक और सरस है। 'जगत मातु-पितु संभु भवानी' की श्रृंगारिक चेष्टाओं का तनिक भी पुट नहीं है। लोक रीति इतनी यथास्थिति से चित्रित हुई है कि यह संस्कृत के शिव काव्य से कम प्रभावित है और तुलसी की मति की भक्तयात्मक भूमिका पर विरचित कथा काव्य है। व्यवहारों की सुष्ठुता, प्रेम की अनन्यता और वैवाहिक कार्यक्रम की सरसता को बड़ी सावधानी से कवि ने अंकित किया है। तुलसीदास अपनी इस रचना से अत्यन्त संतुष्ट थे, इसीलिए इस अनासक्त भक्त ने केवल एक बार अपनी मति की सराहना की है–

प्रेम पाट पटडोरि गौरि-हर-गुन मनि।
मंगल हार रचेउ कवि मति मृगलोचनि॥

जानकी-मंगल

विद्वानों ने इसे तुलसीदास की प्रामाणिक रचनाओं में स्थान दिया है। पर इसमें भी क्षेपक है।

पंथ मिले भृगुनाथ हाथ फरसा लिए।
डाँटहि आँखि देखाइ कोप दारुन किए॥
राम कीन्ह परितोष रोस रिस परिहरि।
चले सौंपि सारंग सुफल लोचन करि॥
रघुबर भुजबल देख उछाह बरातिन्ह।
मुदित राउ लखि सन्मुख विधि सब भाँतिन्ह॥

तुलसी के मानस के पूर्व वाल्मीकीय रामायण की कथा ही लोक प्रचलित थी। काशी के पंडितों से मानस को लेकर तुलसीदास का मतभेद और मानस की प्रति पर विश्वनाथ का हस्ताक्षर संबंधी जनश्रुति प्रसिद्ध है।

रामाज्ञा प्रश्न

यह ज्योतिष शास्त्रीय पद्धति का ग्रंथ है। दोहों, सप्तकों और सर्गों में विभक्त यह ग्रंथ रामकथा के विविध मंगल एवं अमंगलमय प्रसंगों की मिश्रित रचना है। काव्य की दृष्टि से इस ग्रंथ का महत्त्व नगण्य है। सभी इसे तुलसीकृत मानते हैं। इसमें कथा शृंखला का अभाव है और वाल्मीकीय रामायण के प्रसंगों का अनुवाद अनेक दोहों में है।

दोहावली

दोहावली में अधिकांश दोहे मानस के हैं। कवि ने चातक के व्याज से दोहों की एक लंबी शृंखला लिखकर भक्ति और प्रेम की व्याख्या की है। दोहावली दोहा संकलन है। मानस के भी कुछ कथा निरपेक्ष दोहों को इसमें स्थान प्राप्त है। संभव है कुछ दोहे इसमें भी प्रक्षिप्त हों, पर रचना की अप्रामाणिकता असंदिग्ध है।

कवितावली

कवितावली तुलसीदास की रचना है, पर सभा संस्करण अथवा अन्य संस्करणों में प्रकाशित यह रचना पूरी नहीं प्रतीत होती है। कवितावली एक प्रबंध रचना है। कथानक में अप्रासंगिकता एवं शिथिलता तुलसी की कला का कलंक कहा जायेगा।

गीतावली

गीतावली गोस्वामी तुलसीदास की काव्य कृति है। गीतावली तुलसीदास की प्रमाणित रचनाओं में मानी जाती है। यह ब्रजभाषा में रचित गीतों वाली रचना है जिसमें राम के चरित की अपेक्षा कुछ घटनाएँ, झाँकियाँ, मार्मिक भावबिन्दु, ललित रस स्थल, करुणदशा आदि को प्रगीतात्मक भाव के एकसूत्र में पिरोया गया है। ब्रजभाषा यहाँ काव्यभाषा के रूप में ही प्रयुक्त है बल्कि यह कहा जा सकता है कि गीतावली की भाषा सर्वनाम और क्रियापदों को छोड़कर प्रायः अवधी ही है।

'गीतावली' नामकरण जयदेव के गीतगोविन्द, विद्यापति की पदावली की परम्परा में ही है, जो नामकरण मात्र से अपने विषय-वस्तु को प्रकट करती है।

गीतावली में संस्कृतवत् तत्सम पदावली का प्रयोग सूरदास की लोकोन्मुखी ब्रजभाषा की तुलना में न केवल अधिक है बल्कि तुलसी के भावावेगों के व्यक्त करने में वह सहायक सिद्ध हुई है। रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार हृदय के त्रिविध भावों की व्यंजना गीतावाली के मधुर पदों में देखने में आती है।

रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा है 'गीतावली' की रचना गोस्वामी जी ने सूरदास के अनुकरण पर ही की है। बाललीला के कई पद ज्यों के त्यों सूरसागर में भी मिलते हैं, केवल 'राम', 'श्याम' का अन्तर है। लंकाकाण्ड तक तो मार्मिक स्थलों का जो चुनाव हुआ है वह तुलसी के सर्वथाअनुरूप है। पर उत्तरकाण्ड में जाकर सूर पद्धति के अतिशय अनुकरण के कारण उनका गंभीर व्यक्तित्त्व तिरोहित-सा हो गया है, जिस रूप में राम को उन्होंने सर्वत्र लिया है, उनका भी ध्यान उन्हें नहीं रह गया। सूरदास में जिस प्रकार गोपियों के साथ श्रीकृष्ण हिंडोला झूलते हैं, होली खेलते हैं, वही करते राम भी दिखाये गये हैं। इतना अवश्य है कि सीता की सखियों और पुरनारियों का राम की ओर पूज्य भाव ही प्रकट होता है। राम की नखशिख शोभा का अलंकृत वर्णन भी सूर की शैली में बहुत से पदों में लगातार चला गया है।

'गीतावली' मूलत: कृष्ण काव्य परम्परा की गीत पद्धति पर लिखी गयी रामायण ही है। गीतावली का वस्तु-विभाजन सात काण्डों में हुआ है। किन्तु इसका उत्तरकाण्द अन्य ग्रन्थों के उत्तरकाण्ड से बहुत भिन्न है। उसमें राम रूप-वर्णन, राम-हिण्डोला, अयोध्या की रमणीयता, दीपमालिका, वसन्त-बिहार, अयोध्या का आनन्द, रामराज्य आदि के वर्णन में माधुर्य एवं विलास की रमणीय झाँकियाँ प्रस्तुत की गयीं हैं।

श्रीकृष्ण गीतावली

श्रीकृष्ण गीतावली भी गोस्वामी जी की रचना है। श्रीकृष्ण-कथा के कतिपय प्रकरण गीतों के विषय हैं।

हनुमान बाहुक

हनुमान बाहुक गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित स्रोत है। जनश्रुति के अनुसार एक बार जब कलियुग के प्रकोप से उनकी भुजा में अत्यंत पीड़ा हुई तो उसके निवारण के लिये तुलसीदास जी ने इस स्रोत की रचना की।

हनुमान बाहुक

श्रीगणेशाय नमः
श्रीजानकीवल्लभो विजयते
श्रीमद्-गोस्वामि-तुलसीदास-कृत
हनुमान बाहुक
छप्पय
सिंधु-तरन, सिय-सोच-हरन, रबि-बाल-बरन तनु।
भुज बिसाल, मूरति कराल कालहुको काल जनु।।
गहन-दहन-निरदहन लंक निःसंक, बंक-भुव।
जातुधान-बलवान-मान-मद-दवन पवनसुव।।
कह तुलसिदास सेवत सुलभ सेवक हित सन्तत निकट।
गुन-गनत, नमत, सुमिरत, जपत समन सकल-संकट-विकट।। 1।।

भावार्थ - जिनके शरीर का रंग उदयकाल के सूर्य के समान है, जो समुद्र लाँघकर श्री जानकी जी के शोक को हरने वाले, आजानु-बाहु, डरावनी सूरत वाले और मानो काल के भी काल हैं। लंका-रूपी गम्भीर वन को, जो जलाने योग्य नहीं था, उसे जिन्होंने निःसंक जलाया और जो टेढ़ी भौंहों वाले तथा बलवान् राक्षसों के मान और गर्व का नाश करने वाले हैं, तुलसीदास जी कहते हैं - वे श्री पवनकुमार सेवा करने पर बड़ी सुगमता से प्राप्त होने वाले, अपने सेवकों की भलाई करने के लिये सदा समीप रहने वाले तथा गुण गाने, प्रणाम करने एवं स्मरण और नाम जपने से सब भयानक संकटों का नाश करने वाले हैं।। 1।।

स्वर्न-सैल-संकास कोटि-रबि-तरुन-तेज-घन।
उर बिसाल भुज-दंड चंड नख-बज्र बज्र-तन।।
पिंग नयन, भृकुटी कराल रसना दसनानन।
कपिस केस, करकस लँगूर, खल-दल बल भानन।।
कह तुलसिदास बस जासु उर मारुतसुत मूरति बिकट।
संताप पाप तेहि पुरुष कह सपनेहुँ नहिं आवत निकट।। 2।।

भावार्थ - वे सुवर्ण-पर्वत (सुमेरु) - के समान शरीर वाले, करोड़ों मध्याह्न के सूर्य के सदृश अनन्त तेजोराशि, विशाल-हृदय, अत्यन्त बलवान् भुजाओं वाले तथा वज्र के तुल्य नख और शरीर वाले हैं, पीले नयन तथा, जीभ, दाँत और मुख विकराल हैं, बाल भूरे रंग के तथा पूँछ कठोर और दुष्टों के दल

के बल का नाश करने वाली है। तुलसीदास जी कहते हैं – श्री पवनकुमार की डरावनी मूर्ति जिसके हृदय में निवास करती है, उस पुरुष के समीप दु:ख और पाप स्वप्न में भी नहीं आते।। 2।।

झूलना पंचमुख-छमुख-भृगु मुख्य भट असुर सुर, सर्व-सरि-समर समरत्थ सूरो।

बाँकुरो बीर बिरुदैत बिरुदावली, बेद बंदी बदत पैजपूरो।।

जासु गुनगाथ रघुनाथ कह, जासुबल, बिपुल-जल-भरित जग-जलधि झूरो।

दुवन-दल-दमनको कौन तुलसीस है, पवन को पूत रजपूत रुरो।। 3।।

भावार्थ – शिव, स्वामी-कार्तिक, परशुराम, दैत्य और देवता-वृन्द सबके युद्ध रूपी नदी से पार जाने में योग्य योद्धा हैं। वेदरूपी वन्दीजन कहते हैं – आप पूरी प्रतिज्ञा वाले चतुर योद्धा, बड़े कीर्तिमान और यशस्वी हैं। जिनके गुणों की कथा को रघुनाथ जी ने श्रीमुख से कहा तथा जिनके अतिशय पराक्रम से अपार जल से भरा हुआ संसार-समुद्र सूख गया। तुलसी के स्वामी सुन्दर राजपूत (पवनकुमार) – के बिना राक्षसों के दल का नाश करने वाला दूसरा कौन है? (कोई नहीं)।। 3।।

घनाक्षरी

भानुसों पढ़न हनुमान गये भानु मन-अनुमानि सिसु-केलि कियो फेरफार सो।

पाछिले पगनि गम गगन मगन-मन, क्रम को न भ्रम, कपि बालक बिहार सो।।

कौतुक बिलोकि लोकपाल हरि हर बिधि, लोचननि चकाचौंधी चित्तनि खभार सो।

बल कैंधौं बीर-रस धीरज कै, साहस कै, तुलसी सरीर धरे सबनि को सार सो।। 4।।

भावार्थ – सूर्य भगवान के समीप में हनुमान जी विद्या पढ़ने के लिये गये, सूर्यदेव ने मन में बालकों का खेल समझकर बहाना किया (कि मैं स्थिर नहीं रह सकता और बिना आमने-सामने के पढ़ना-पढ़ाना असम्भव है)। हनुमान जी ने भास्कर की ओर मुख करके पीठ की तरफ पैरों से प्रसन्न-मन आकाश-मार्ग में बालकों के खेल के समान गमन किया और उससे पाठ्यक्रम में किसी प्रकार का भ्रम नहीं हुआ। इस अचरज के खेल को देखकर इन्द्रादि लोकपाल, विष्णु,

रुद्र और ब्रह्मा की आँखें चौंधिया गयीं तथा चित्त में खलबली-सी उत्पन्न हो गयी। तुलसीदास जी कहते हैं - सब सोचने लगे कि यह न जाने बल, न जाने वीररस, न जाने धैर्य, न जाने हिम्मत अथवा न जाने इन सबका सार ही शरीर धारण किये हैं।। 4।।

भारत में पारथ के रथ केथू कपिराज, गाज्यो सुनि कुरुराज दल हल बल भो।

कह्यो द्रोन भीषम समीर सुत महाबीर, बीर-रस-बारि-निधि जाको बल जल भो।।

बानर सुभाय बाल केलि भूमि भानु लागि, फलँग फलाँग हूँतें घाटि नभतल भो।

नाई-नाई माथ जोरि-जोरि हाथ जोधा जोहैं, हनुमान देखे जगजीवन को फल भो।। 5।।

भावार्थ-महाभारत में अर्जुन के रथ की पताका पर कपिराज हनुमान जी ने गर्जन किया, जिसको सुनकर दुर्योधन की सेना में घबराहट उत्पन्न हो गयी। द्रोणाचार्य और भीष्म-पितामह ने कहा कि ये महाबली पवनकुमार है। जिनका बल वीर-रस-रूपी समुद्र का जल हुआ है। इनके स्वाभाविक ही बालकों के खेल के समान धरती से सूर्य तक के कुदान ने आकाश-मण्डल को एक पग से भी कम कर दिया था। सब योद्धागण मस्तक नवा-नवाकर और हाथ जोड़-जोड़कर देखते हैं। इस प्रकार हनुमान जी का दर्शन पाने से उन्हें संसार में जीने का फल मिल गया।। 5।।

गो-पद पयोधि करि होलिका ज्यों लाई लंक, निपट निसंक परपुर गलबल भो।

द्रोन-सो पहार लियो ख्याल ही उखारि कर, कंदुक-ज्यों कपि खेल बेल कैसो फल भो।।

संकट समाज असमंजस भो रामराज, काज जुग पूगनि को करतल पल भो।

साहसी समत्थ तुलसी को नाह जाकी बाँह, लोकपाल पालन को फिर थिर थल भो।। 6।।

भावार्थ - समुद्र को गोखुर के समान करके निडर होकर लंका-जैसी (सुरक्षित नगरी को) होलिका के सदृश जला डाला, जिससे पराये (शत्रु के) पुर में गड़बड़ी मच गयी। द्रोण-जैसा भारी पर्वत खेल में ही उखाड़ गेंद की तरह उठा लिया, वह कपिराज के लिये बेल-फल के समान क्रीड़ा की सामग्री बन

गया। राम-राज्य में अपार संकट (लक्ष्मण-शक्ति) -से असमंजस उत्पन्न हुआ (उस समय जिसके पराक्रम से) युग समूह में होने वाला काम पलभर में मुट्ठी में आ गया। तुलसी के स्वामी बड़े साहसी और सामर्थ्यवान् हैं, जिनकी भुजाएँ लोकपालों को पालन करने तथा उन्हें फिर से स्थिरता-पूर्वक बसाने का स्थान हुई।। 6।।

कमठ की पीठि जाके गोडनि की गाड़ैं मानो, नाप के भाजन भरि जल निधि जल भो।

जातुधान-दावन परावन को दुर्ग भयो, महामीन बास तिमि तोमनि को थल भो।।

कुम्भकरन-रावन पयोद-नाद-ईंधन को, तुलसी प्रताप जाको प्रबल अनल भो।

भीषम कहत मेरे अनुमान हनुमान, सारिखो त्रिकाल न त्रिलोक महाबल भो।। 7।।

भावार्थ-कच्छप की पीठ में जिनके पाँव के गड्हे समुद्र का जल भरने के लिये मानो नाप के पात्र (बर्तन) हुए। राक्षसों का नाश करते समय वह (समुद्र) ही उनके भागकर छिपने का गढ़ हुआ तथा वही बहुत-से बड़े-बड़े मत्स्यों के रहने का स्थान हुआ। तुलसीदास जी कहते हैं - रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाद रूपी ईंधन को जलाने के निमित्त जिनका प्रताप प्रचण्ड अग्नि हुआ। भीष्म पितामह कहते हैं - मेरी समझ में हनुमान जी के समान अत्यन्त बलवान तीनों काल और तीनों लोक में कोई नहीं हुआ।। 7।।

दूत रामराय को, सपूत पूत पौनको, तू अंजनी को नन्दन प्रताप भूरि भानु सो।

सीय-सोच-समन, दुरित दोष दमन, सरन आये अवन, लखन प्रिय प्रान सो।।

दसमुख दुसह दरिद्र दरिबे को भयो, प्रकट तिलोक ओक तुलसी निधान सो।

ज्ञान गुनवान बलवान सेवा सावधान, साहेब सुजान उर आनु हनुमान सो।। 8।।

भावार्थ- आप राजा रामचन्द्र जी के दूत, पवनदेव के सुयोग्य पुत्र, अंजनीदेवी को आनन्द देने वाले, असंख्य सूर्यों के समान तेजस्वी, सीताजी के शोकनाशक, पाप तथा अवगुण को नष्ट करने वाले, शरणागतों की रक्षा करने

वाले और लक्ष्मण जी को प्राणों के समान प्रिय हैं। तुलसीदास जी के दु:सह दरिद्र-रूपी रावण का नाश करने के लिये आप तीनों लोकों में आश्रय रूप प्रकट हुए हैं। अरे लोगों ! तुम ज्ञानी, गुणवान्, बलवान् और सेवा (दूसरों को आराम पहुँचाने) - में सजग हनुमान जी के समान चतुर स्वामी को अपने हृदय में बसाओ।। 8।।

दवन-दुवन-दल भुवन-बिदित बल, बेद जस गावत बिबुध बंदीछोर को।
पाप-ताप-तिमिर तुहिन-विघटन-पटु, सेवक-सरोरुह सुखद भानु भोर को।।
लोक-परलोक तें बिसोक सपने न सोक, तुलसी के हिये है भरोसो एक ओर को।
राम को दुलारो दास बामदेव को निवास, नाम कलि-कामतरु केसरी-किसोर को।। 9।।

भावार्थ - दानवों की सेना को नष्ट करने में जिनका पराक्रम विश्व-विख्यात है, वेद यश-गान करते हैं कि देवताओं को कारागार से छुड़ाने वाला पवनकुमार के सिवा दूसरा कौन है? आप पापान्धकार और कष्ट-रूपी पाले को घटाने में प्रवीण तथा सेवक रूपी कमल को प्रसन्न करने के लिये प्रात:-काल के सूर्य के समान हैं। तुलसी के हृदय में एकमात्र हनुमान जी का भरोसा है, स्वप्न में भी लोक और परलोक की चिन्ता नहीं, शोकरहित हैं, रामचन्द्र जी के दुलारे शिव-स्वरूप (ग्यारह रुद्र में एक) केसरी-नन्दन का नाम कलिकाल में कल्प-वृक्ष के समान है।। 9।।

महाबल-सीम महाभीम महाबान इत, महाबीर बिदित बरायो रघुबीर को।
कुलिस-कठोर तनु जोरपरै रोर रन, करुना-कलित मन धारमिक धीर को।।
दुर्जन को कालसो कराल पाल सज्जन को, सुमिरे हरनहार तुलसी की पीर को।
सीय-सुख-दायक दुलारो रघुनायक को, सेवक सहायक है साहसी समीर को।। 10।।

भावार्थ - आप अत्यन्त पराक्रम की हद, अतिशय कराल, बड़े बहादुर और रघुनाथ जी द्वारा चुने हुए महाबलवान विख्यात योद्धा हैं। वज्र के समान कठोर शरीर वाले जिनके जोर पड़ने अर्थात् बल करने से रणस्थल में कोलाहल मच जाता है, सुन्दर करुणा एवं धैर्य के स्थान और मन से धर्माचरण करने वाले हैं। दुष्टों के लिये काल के समान भयावने, सज्जनों को पालने वाले और स्मरण करने से तुलसी के दु:ख को हरने वाले हैं। सीता जी को सुख देने वाले, रघुनाथ जी के दुलारे और सेवकों की सहायता करने में पवनकुमार बड़े ही साहसी हैं।। 10।।

रचिबे को बिधि जैसे, पालिबे को हरि, हर मीच मारिबे को, ज्याईबे को सुधापान भो।

धरिबे को धरनि, तरनि तम दलिबे को, सोखिबे कृसानु, पोषिबे को हिम-भानु भो।।

खल-दु:ख दोषिबे को, जन-परितोषिबे को, माँगिबो मलीनता को मोदक सुदान भो।

आरत की आरति निवारिबे को तिहुँ पुर, तुलसी को साहेब हठीलो हनुमान भो।। 11।।

भावार्थ - आप सृष्टि-रचना के लिये ब्रह्मा, पालन करने को विष्णु, मारने को रुद्र और जिलाने के लिये अमृत-पान के समान हुए, धारण करने में धरती, अन्धकार को नसाने में सूर्य, सुखाने में अग्नि, पोषण करने में चन्द्रमा और सूर्य हुए, खलों को दु:ख देने और दूषित बनाने वाले, सेवकों को संतुष्ट करने वाले एवं माँगना-रूपी मैलेपन का विनाश करने में मोदक-दाता हुए। तीनों लोकों में दु:खियों के दु:ख छुड़ाने के लिये तुलसी के स्वामी श्रीहनुमान जी दृढ़-प्रतिज्ञ हुए हैं।। 11।।

सेवक स्योकाई जानि जानकीस मानै कानि, सानुकूल सूलपानि नवै नाथ नाँक को।

देवी देव दानव दयावने ह्वै जोरैं हाथ, बापुरे बराक कहा और राजा राँक को।।

जागत सोवत बैठे बागत बिनोद मोद, ताके जो अनर्थ सो समर्थ एक आँक को।

सब दिन रुरो परै पूरो जहाँ-तहाँ ताहि, जाके है भरोसो हिये हनुमान हाँक को।। 12।।

भावार्थ - सेवक हनुमान जी की सेवा समझकर जानकीनाथ ने संकोच माना अर्थात् अहसान से दब गये, शिवजी पक्ष में रहते और स्वर्ग के स्वामी इन्द्र नवते हैं। देवी-देवता, दानव सब दया के पात्र बनकर हाथ जोड़ते हैं, फिर दूसरे बेचारे दरिद्र-दु:खिया राजा कौन चीज हैं। जागते, सोते, बैठते, डोलते, क्रीड़ा करते और आनन्द में मग्न (पवन कुमार के) सेवक का अनिष्ट चाहेगा ऐसा कौन सिद्धान्त का समर्थ है? उसका जहाँ-तहाँ सब दिन श्रेष्ठ रीति से पूरा पड़ेगा, जिसके हृदय में अंजनी कुमार की हाँक का भरोसा है।। 12।।

सानुग सगौरि सानुकूल सूलपानि ताहि, लोकपाल सकल लखन राम जानकी।

लोक परलोक को बिसोक सो तिलोक ताहि, तुलसी तमाइ कहा काहू बीर आनकी।।

केसरी किसोर बन्दीछोर के नेवाजे सब, कीरति बिमल कपि करुनानिधान की।

बालक-ज्यों पालिहैं कृपालु मुनि सिद्ध ताको, जाके हिये हुलसति हाँक हनुमान की।। 13।।

भावार्थ - जिसके हृदय में हनुमान जी की हाँक उल्लसित होती है, उस पर अपने सेवकों और पार्वती जी के सहित शंकर भगवान, समस्त लोकपाल, श्रीरामचन्द्र, जानकी और लक्ष्मण जी भी प्रसन्न रहते हैं। तुलसीदास जी कहते हैं फिर लोक और परलोक में शोकरहित हुए उस प्राणी को तीनों लोकों में किसी योद्धा के आश्रित होने की क्या लालसा होगी? दया-निकेत केसरी-नन्दन निर्मल कीर्ति वाले हनुमान जी के प्रसन्न होने से सम्पूर्ण सिद्ध-मुनि उस मनुष्य पर दयालु होकर बालक के समान पालन करते हैं, उन करुणानिधान कपीश्वर की कीर्ति ऐसी ही निर्मल है।। 13।।

करुनानिधान, बलबुद्धि के निधान, मोद-महिमा निधान, गुन-ज्ञान के निधान हौ।

बामदेव-रूप भूप राम के सनेही, नाम लेत-देत अर्थ धर्म काम निरबान हौ।।

आपने प्रभाव सीताराम के सुभाव सील, लोक-बेद-बिधि के बिदूष हनुमान हौ।

मन की बचन की करम की तिहूँ प्रकार, तुलसी तिहारो तुम साहेब सुजान हौ।। 14।।

भावार्थ - तुम दया के स्थान, बुद्धि-बल के धाम, आनन्द महिमा के मन्दिर और गुण-ज्ञान के निकेतन हो, राजा रामचन्द्र के स्नेही, शंकरजी के रूप और नाम लेने से अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष के देने वाले हो। हे हनुमान जी ! आप अपनी शक्ति से श्रीरघुनाथ जी के शील-स्वभाव, लोक-रीति और वेद-विधि के पण्डित हो !मन, वचन, कर्म तीनों प्रकार से तुलसी आपका दास है, आप चतुर स्वामी हैं अर्थात् भीतर-बाहर की सब जानते हैं।। 14।।

मन को अगम, तन सुगम किये कपीस, काज महाराज के समाज साज साजे हैं।

देव-बंदी छोर रनरोर केसरी किसोर, जुग जुग जग तेरे बिरद बिराजे हैं।

बीर बरजोर, घटि जोर तुलसी की ओर, सुनि सकुचाने साधु खल गन गाजे हैं।

बिगरी सँवार अंजनी कुमार कीजे मोहिं, जैसे होत आये हनुमान के निवाजे हैं।। 15।।

भावार्थ - हे कपिराज ! महाराज रामचन्द्र जी के कार्य के लिये सारा साज-समाज सजकर जो काम मन को दुर्गम था, उसको आपने शरीर से करके सुलभ कर दिया। हे केसरी किशोर ! आप देवताओं को बन्दीखाने से मुक्त करने वाले, संग्राम-भूमि में कोलाहल मचाने वाले हैं और आपकी नामवरी युग-युग से संसार में विराजती है। हे जबर्दस्त योद्धा ! आपका बल तुलसी के लिये क्यों घट गया, जिसको सुनकर साधु सकुचा गये हैं और दुष्टगण प्रसन्न हो रहे हैं, हे अंजनी कुमार ! मेरी बिगड़ी बात उसी तरह सुधारिये जिस प्रकार आपके प्रसन्न होने से होती (सुधरती) आयी है।। 15।।

सवैया जान सिरोमनि हौ हनुमान सदा जन के मन बास तिहारो।

ढ़ारो बिगारो मैं काको कहा केहि कारन खीझत हौं तो तिहारो।।

साहेब सेवक नाते तो हातो कियो सो तहाँ तुलसी को न चारो।

दोष सुनाये तें आगेहुँ को होशियार ह्वैं हों मन तौ हिय हारो।। 16।।

भावार्थ - हे हनुमान जी ! आप ज्ञान-शिरोमणि हैं और सेवकों के मन में आपका सदा निवास है। मैं किसी का क्या गिराता वा बिगाड़ता हूँ। हे स्वामी ! आपने मुझे सेवक के नाते से च्युत कर दिया, इसमें तुलसी का कोई वश नहीं है। यद्यपि मन हृदय में हार गया है तो भी मेरा अपराध सुना दीजिये, जिसमें आगे के लिये होशियार हो जाऊँ।। 16।।

तेरे थपे उथपै न महेस, थपै थिरको कपि जे घर घाले।

तेरे निवाजे गरीब निवाज बिराजत बैरिन के उर साले।।

संकट सोच सबै तुलसी लिये नाम फटै मकरी के से जाले।

बूढ़ भये, बलि, मेरिहि बार, कि हारि परे बहुतै नत पाले।। 17।।

भावार्थ - हे वानरराज ! आपके बसाये हुए को शंकर भगवान भी नहीं उजाड़ सकते और जिस घर को आपने नष्ट कर दिया उसको कौन बसा सकता है? हे गरीब निवाज ! आप जिस पर प्रसन्न हुए, वे शत्रुओं के हृदय में पीड़ा

रूप होकर विराजते हैं। तुलसीदास जी कहते हैं, आपका नाम लेने से सम्पूर्ण संकट और सोच मकड़ी के जाले के समान फट जाते हैं। बलिहारी ! क्या आप मेरी ही बार बूढ़े हो गये अथवा बहुत-से गरीबों का पालन करते - करते अब थक गये हैं? (इसी से मेरा संकट दूर करने में ढील कर रहे हैं)।। 17।।

सिंधु तरे, बड़े बीर दले खल, जारे हैं लंक से बंक मवा से।
तैं रनि-केहरि केहरि के बिदले अरि-कुंजर छैल छवा से।।
तोसों समत्थ सुसाहेब सेई सहै तुलसी दुख दोष दवा से।
बानर बाज ! बढ़े खल-खेचर, लीजत क्यों न लपेटि लवा-से।। 18।।

भावार्थ - आपने समुद्र लाँघकर बड़े-बड़े दुष्ट राक्षसों का विनाश करके लंका -जैसे विकट गढ़ को जलाया। हे संग्राम-रूपी वन के सिंह ! राक्षस शत्रु बने-ठने हाथी के बच्चे के समान थे, आपने उनको सिंह की भाँति विनष्ट कर डाला। आपने बराबर समर्थ और अच्छे स्वामी की सेवा करते हुए तुलसी दोष और दु:ख की आग को सहन करे (यह आश्चर्य की बात है)। हे वानर-रुपी बाज ! बहुत-से दुष्ट-जन-रूपी पक्षी बढ़ गये हैं, उनको आप बटेर के समान क्यों नहीं लपेट लेते?।। 18।।

अच्छ-विमर्दन कानन-भानि दसानन आनन भा न निहारो।
बारिदनाद अकंपन कुंभकरन्न-से कुंजर केहरि-बारो।।
राम-प्रताप-हुतासन, कच्छ, बिपच्छ, समीर समीर-दुलारो।
पाप-तें साप-तें ताप तिहूँ-तें सदा तुलसी कहँ सो रखवारो।। 19।।

भावार्थ - हे अक्षय कुमार को मारने वाले हनुमान जी ! आपने अशोक-वाटिका को विध्वंस किया और रावण-जैसे प्रतापी योद्धा के मुख के तेज की ओर देखा तक नहीं अर्थात् उसकी कुछ भी परवाह नहीं की। आप मेघनाद, अकम्पन और कुम्भकर्ण -सरीखे हाथियों के मद को चूर्ण करने में किशोरावस्था के सिंह हैं। विपक्षरूप तिनकों के ढेर के लिये भगवान राम का प्रताप अग्नि-तुल्य है और पवनकुमार उसके लिये पवन-रूप हैं। वे पवननन्दन ही तुलसीदास को सर्वदा पाप, शाप और संताप - तीनों से बचाने वाले हैं।। 19।।

जानत जहान हनुमान को निवाज्यौ जन, मन अनुमानि बलि, बोल न बिसारिये।
सेवा-जोग तुलसी कबहुँ कहा चूक परी, साहेब सुभाव कपि साहिबी सँभारिये।।

अपराधी जानि कीजै सासति सहस भाँति, मोदक मरै जो ताहि माहुर न मारिये।

साहसी समीर के दुलारे रघुबीर जू के, बाँह पीर महाबीर बेगि ही निवारिये।। 20।।

भावार्थ – हे हनुमान जी ! बलि जाता हूँ, अपनी प्रतिज्ञा को न भुलाइये, जिसको संसार जानता है, मन में विचारिये, आपका कृपा-पात्र जन बाधारहित और सदा प्रसन्न रहता है। हे स्वामी कपिराज ! तुलसी कभी सेवा के योग्य था? क्या चूक हुई है, अपनी साहिबी को सँभालिये, मुझे अपराधी समझते हों तो सहस्त्रों भाँति की दुर्दशा कीजिये, किन्तु जो लड्डू देने से मरता हो उसको विष से न मारिये। हे महाबली, साहसी, पवन के दुलारे, रघुनाथ जी के प्यारे ! भुजाओं की पीड़ा को शीघ्र दूर कीजिये।। 20।।

बालक बिलोकि, बलि बारेतें आपनो कियो, दीनबन्धु दया कीन्हीं निरुपाधि न्यारिये।

रावरो भरोसो तुलसी के, रावरोई बल, आस रावरीयै दास रावरो बिचारिये।।

बड़ो बिकराल कलि, काको न बिहाल कियो, माथे पगु बलि को, निहारि सो निवारिये।

केसरी किसोर, रनरोर, बरजोर बीर, बाँहुपीर राहुमातु ज्यौं पछारि मारिये।। 21।।

भावार्थ – हे दीनबन्धु ! बलि जाता हूँ, बालक को देखकर आपने लड़कपन से ही अपनाया और मायारहित अनोखी दया की। सोचिये तो सही, तुलसी आपका दास है, इसको आपका भरोसा, आपका ही बल और आपकी ही आशा है। अत्यन्त भयानक कलिकाल ने किसको बेचैन नहीं किया? इस बलवान का पैर मेरे मस्तक पर भी देखकर उसको हटाइये। हे केसरी किशोर, बरजोर वीर ! आप रण में कोलाहल उत्पन्न करने वाले हैं, राहु की माता सिंहिका के समान बाहु की पीड़ा को पछाड़कर मार डालिये।। 21।।

उथपे थपनथिर थपे उथपनहार, केसरी कुमार बल आपनो सँभारिये।

राम के गुलामनि को कामतरु रामदूत, मोसे दीन दूबरे को तकिया तिहारिये।।

साहेब समर्थ तोसों तुलसी के माथे पर, सोऊ अपराध बिनु बीर, बाँधि मारिये।

पोखरी बिसाल बाँहु, बलि, बारिचर पीर, मकरी ज्यौं पकरि कै बदन बिदारिये।। 22।।

भावार्थ - हे केसरी कुमार ! आप उजड़े हुए (सुग्रीव-विभीषण) - को बसाने वाले और बसे हुए (रावणादि) - को उजाड़ने वाले हैं, अपने उस बल का स्मरण कीजिये। हे रामदूत ! रामचन्द्र जी के सेवकों के लिये आप कल्पवृक्ष हैं और मुझ-सरीखे दीन-दुर्बलों को आपका ही सहारा है। हे वीर ! तुलसी के माथे पर आपके समान समर्थ स्वामी विद्यमान रहते हुए भी वह बाँधकर मारा जाता है। बलि जाता हूँ, मेरी भुजा विशाल पोखरी के समान है और यह पीड़ा उसमें जलचर के सदृश है, सो आप मकरी के समान इस जलचरी को पकड़कर इसका मुख फाड़ डालिये।। 22।।

राम को सनेह, राम साहस लखन सिय, राम की भगति, सोच संकट निवारिये।

मुद-मरकट रोग-बारिनिधि हेरि हारे, जीव-जामवंत को भरोसो तेरो भारिये।।

कूदिये कृपाल तुलसी सुप्रेम-पब्बयतें, सुथल सुबेल भालू बैठि कै बिचारिये।

महाबीर बाँकुरे बराकी बाँह-पीर क्यों न, लंकिनी ज्यों लात-घात ही मरोरि मारिये।। 23।।

भावार्थ - मुझमें रामचन्द्र जी के प्रति स्नेह, रामचन्द्र जी की भक्ति, राम-लक्ष्मण और जानकीजी की कृपा से साहस (दृढ़ता-पूर्वक कठिनाइयों का सामना करने की हिम्मत) है, अतः मेरे शोक-संकट को दूर कीजिये। आनन्दरूपी बंदर रोग-रूपी अपार समुद्र को देखकर मन में हार गये हैं, जीवरूपी जाम्बवन्त को आपका बड़ा भरोसा है। हे कृपालु ! तुलसी के सुन्दर प्रेमरूपी पर्वत से कूदिये, श्रेष्ठ स्थान (हृदय) -रूपी सुबेलपर्वत पर बैठे हुए जीवरूपी जाम्बवन्त जी सोचते (प्रतीक्षा करते) हैं। हे महाबली बाँके योद्धा ! मेरे बाहु की पीड़ारूपिणी लंकिनी को लात की चोट से क्यों नहीं मरोड़कर मार डालते?।। 23।।

लोक-परलोकहुँ तिलोक न बिलोकियत, तोसे समरथ चष चारिहूँ निहारिये।

कर्म, काल, लोकपाल, अग-जग जीवजाल, नाथ हाथ सब निज महिमा बिचारिये।।

खास दास रावरो, निवास तेरो तासु उर, तुलसी सो देव दुखी देखियत भारिये।

बात तरुमूल बाँहुसूल कपिकच्छु-बेलि, उपजी सकेलि कपिकेलि ही उखारिये।। 24।।

भावार्थ - लोक, परलोक और तीनों लोकों में चारों नेत्रों से देखता हूँ, आपके समान योग्य कोई नहीं दिखायी देता। हे नाथ ! कर्म, काल, लोकपाल तथा सम्पूर्ण स्थावर-जंगम जीवसमूह आपके ही हाथ में हैं, अपनी महिमा को विचारिये। हे देव ! तुलसी आपका निजी सेवक है, उसके हृदय में आपका निवास है और वह भारी दुःखी दिखायी देता है। वात-व्याधि-जनित बाहु की पीड़ा केवाँच की लता के समान है, उसकी उत्पन्न हुई जड़ को बटोरकर वानरी खेल से उखाड़ डालिये।। 24।।

करम-कराल-कंस भूमिपाल के भरोसे, बकी बकभगिनी काहू तें कहा डरैगी।

बड़ी बिकराल बाल घातिनी न जात कहि, बाँहुबल बालक छबीले छोटे छरैगी।।

आई है बनाइ बेष आप ही बिचारि देख, पाप जाय सबको गुनी के पाले परैगी।

पूतना पिसाचिनी ज्यौं कपिकान्ह तुलसी की, बाँहपीर महाबीर तेरे मारे मरैगी।। 25।।

भावार्थ - कर्मरूपी भयंकर कंस राजा के भरोसे बकासुर की बहिन पूतना राक्षसी क्या किसी से डरेगी? बालकों को मारने में बड़ी भयावनी, जिसकी लीला कही नहीं जाती है, वह अपने बाहुबल से छोटे छबिमान् शिशुओं को छलेगी। आप ही विचारकर देखिये, वह सुन्दर रूप बनाकर आयी है, यदि आप-सरीखे गुणी के पाले पड़ेगी तो सभी का पाप दूर हो जायेगा। हे महाबली कपिराज ! तुलसी की बाहु की पीड़ा पूतना पिशाचिनी के समान है और आप बालकृष्ण-रूप हैं, यह आपके ही मारने से मरेगी।। 25।।

भालकी कि कालकी कि रोष की त्रिदोष की है, बेदन बिषम पाप ताप छल छाँह की।

करमन कूट की कि जन्त्र मन्त्र बूट की, पराहि जाहि पापिनी मलीन मन माँह की।।

पैहहि सजाय, नत कहत बजाय तोहि, बाबरी न होहि बानि जानि कपि नाँह की।

आन हनुमान की दुहाई बलवान की, सपथ महाबीर की जो रहै पीर बाँह की।। 26।।

भावार्थ - यह कठिन पीड़ा कपाल की लिखावट है या समय, क्रोध अथवा त्रिदोष का या मेरे भयंकर पापों का परिणाम है, दु:ख किंवा धोखे की छाया है। मारणादि प्रयोग अथवा यन्त्र-मन्त्र रूपी वृक्ष का फल है, अरी मन की मैली पापिनी पूतना ! भाग जा, नहीं तो मैं डंका पीटकर कहे देता हूँ कि कपिराज का स्वभाव जानकर तू पगली न बने। जो बाहु की पीड़ा रहे तो मैं महाबीर बलवान् हनुमान जी की दोहाई और सौगन्ध करता हूँ अर्थात् अब वह नहीं रह सकेगी।। 26।।

सिंहिका सँहारि बल, सुरसा सुधारि छल, लंकिनी पछारि मारि बाटिका उजारी है।

लंक परजारि मकरी बिदारि बारबार, जातुधान धारि धूरिधानी करि डारी है।।

तोरि जमकातरि मंदोदरी कढ़ोरि आनी, रावन की रानी मेघनाद महँतारी है।

भीर बाँह पीर की निपट राखी महाबीर, कौन के संकोच तुलसी के सोच भारी है।। 27।।

भावार्थ - सिंहिका के बल का संहार करके सुरसा के छल को सुधार कर लंकिनी को मार गिराया और अशोक-वाटिका को उजाड़ डाला। लंकापुरी का विनाश किया। यमराज का खड्ग अर्थात् परदा फाड़कर मेघनाद की माता और रावण की पटरानी को राजमहल से बाहर निकाल लाये। हे महाबली कपिराज ! तुलसी को बड़ा सोच है, किसके संकोच में पड़कर आपने केवल मेरे बाहु की पीड़ा के भय को छोड़ रखा है।। 27।।

तेरो बालि केलि बीर सुनि सहमत धीर, भूलत सरीर सुधि सक्र-रबि-राहु की।

तेरी बाँह बसत बिसोक लोकपाल सब, तेरो नाम लेत रहै आरति न काहु की।।

साम दान भेद बिधि बेदहू लबेद सिधि, हाथ कपिनाथ ही के चोटी चोर साहु की।

आलस अनख परिहास कै सिखावन है, एते दिन रही पीर तुलसी के बाहु की।। 28।।

भावार्थ – हे वीर ! आपके लड़कपन का खेल सुनकर धीरजवान् भी भयभीत हो जाते हैं और इन्द्र, सूर्य तथा राहु अपने शरीर की सुध भुला जाती है। आपके बाहुबल से सब लोकपाल शोकरहित होकर बसते हैं और आपका नाम लेने से किसी का दु:ख नहीं रह जाता। साम, दान और भेद-नीति का विधान तथा वेद-लवेद से भी सिद्ध है कि चोर-साहु की चोटी कपिनाथ के ही हाथ में रहती है। तुलसीदास के जो इतने दिन बाहु की पीड़ा रही है सो क्या आपका आलस्य है अथवा क्रोध, परिहास या शिक्षा है।। 28।।

टूकनि को घर-घर डोलत कँगाल बोलि, बाल ज्यों कृपाल नतपाल पालि पोसो है।

कीन्ही है सँभार सार अँजनी कुमार बीर, आपनो बिसारि हैं न मेरेहू भरोसो है।।

इतनो परेखो सब भाँति समरथ आजु, कपिराज साँची कहौं को तिलोक तोसो है।

सासति सहत दास कीजे पेखि परिहास, चीरी को मरन खेल बालकनि को सो है।। 29।।

भावार्थ – हे गरीबों के पालन करने वाले कृपानिधान ! टुकड़े के लिये दरिद्रतावश घर-घर मैं डोलता-फिरता था, आपने बुलाकर बालक के समान मेरा पालन-पोषण किया है। हे वीर अंजनी कुमार ! मुख्यत: आपने ही मेरी रक्षा की है, अपने जन को आप न भुलायेंगे, इसका मुझे भी भरोसा है। हे कपिराज ! आज आप सब प्रकार समर्थ हैं, मैं सच कहता हूँ, आपके समान भला तीनों लोकों में कौन है? किंतु मुझे इतना परेखा (पछतावा) है कि यह सेवक दुर्दशा सह रहा है, लड़कों के खेलवाड़ होने के समान चिड़िया की मृत्यु हो रही है और आप तमाशा देखते हैं।। 29।।

आपने ही पाप तें त्रिपात तें कि साप तें, बढ़ी है बाँह बेदन कही न सहि जाति है।

औषध अनेक जन्त्र मन्त्र टोटकादि किये, बादि भये देवता मनाये अधिकाति है।।

करतार, भरतार, हरतार, कर्म काल, को है जगजाल जो न मानत इताति है।

चेरो तेरो तुलसी तू मेरो कह्यो राम दूत, ढील तेरी बीर मोहि पीर तें पिराति है।। 30।।

भावार्थ – मेरे ही पाप व तीनों ताप अथवा शाप से बाहु की पीड़ा बढ़ी है, वह न कही जाती और न सही जाती है। अनेक औषधि, यन्त्र-मन्त्र-टोटकादि किये, देवताओं को मनाया, पर सब व्यर्थ हुआ, पीड़ा बढ़ती ही जाती है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कर्म, काल और संसार का समूह-जाल कौन ऐसा है, जो आपकी आज्ञा को न मानता हो। हे रामदूत ! तुलसी आपका दास है और आपने इसको अपना सेवक कहा है। हे वीर ! आपकी यह ढील मुझे इस पीड़ा से भी अधिक पीड़ित कर रही है।। 30।।

दूत राम राय को, सपूत पूत बाय को, समत्व हाथ पाय को सहाय असहाय को।

बाँकी बिरदावली बिदित बेद गाइयत, रावन सो भट भयो मुठिका के घाय को।।

एते बड़े साहेब समर्थ को निवाजो आज, सीदत सुसेवक बचन मन काय को।

थोरी बाँह पीर की बड़ी गलानि तुलसी को, कौन पाप कोप, लोप प्रकट प्रभाय को।। 31।।

भावार्थ – आप राजा रामचन्द्र के दूत, पवनदेव के सत्पुत्र, हाथ-पाँव के समर्थ और निराश्रितों के सहायक हैं। आपके सुन्दर यश की कथा विख्यात है, वेद गान करते हैं और रावण-जैसा त्रिलोक-विजयी योद्धा आपके घूँसे की चोट से घायल हो गया। इतने बड़े योग्य स्वामी के अनुग्रह करने पर भी आपका श्रेष्ठ सेवक आज तन-मन-वचन से दु:ख पा रहा है। तुलसी को इस थोड़ी-सी बाहु-पीड़ा की बड़ी ग्लानि है, मेरे कौन-से पाप के कारण व क्रोध से आपका प्रत्यक्ष प्रभाव लुप्त हो गया है?।। 31।।

देवी देव दनुज मनुज मुनि सिद्ध नाग, छोटे बड़े जीव जेते चेतन अचेत हैं।

पूतना पिसाची जातुधानी जातुधान बाम, राम दूत की रजाइ माथे मानि लेत हैं।।

घोर जन्त्र मन्त्र कूट कपट कुरोग जोग, हनुमान आन सुनि छाड़त निकेत हैं।

क्रोध कीजे कर्म को प्रबोध कीजे तुलसी को, सोध कीजे तिनको जो दोष दुख देत हैं।। 32।।

भावार्थ – देवी, देवता, दैत्य, मनुष्य, मुनि, सिद्ध और नाग आदि छोटे-बड़े जितने जड़-चेतन जीव हैं तथा पूतना, पिशाचिनी, राक्षसी-राक्षस जितने कुटिल प्राणी हैं, वे सभी रामदूत पवनकुमार की आज्ञा शिरोधार्य करके मानते हैं। भीषण यन्त्र-मन्त्र, धोखाधारी, छलबाज और दुष्ट रोगों के आक्रमण हनुमान जी की दोहाई सुनकर स्थान छोड़ देते हैं। मेरे खोटे कर्म पर क्रोध कीजिये, तुलसी को सुखावन दीजिये और जो दोष हमें दु:ख देते हैं, उनका सुधार करिये।। 32।।

तेरे बल बानर जिताये रन रावन सों, तेरे घाले जातुधान भये घर-घर के।
तेरे बल रामराज किये सब सुरकाज, सकल समाज साज साजे रघुबर के।।
तेरो गुनगान सुनि गीरबान पुलकत, सजल बिलोचन बिरंचि हरि हर के।
तुलसी के माथे पर हाथ फेरो कीसनाथ, देखिये न दास दुखी तोसो कनिगर के।। 33।।

भावार्थ – आपके बल ने युद्ध में वानरों को रावण से जिताया और आपके ही नष्ट करने से राक्षस घर-घर के (तीन-तेरह) हो गये। आपके ही बल से राजा रामचन्द्र जी ने देवताओं का सब काम पूरा किया और आपने ही रघुनाथ जी के समाज का सम्पूर्ण साज सजाया। आपके गुणों का गान सुनकर देवता रोमांचित होते हैं और ब्रह्मा, विष्णु, महेश की आँखों में जल भर आता है। हे वानरों के स्वामी ! तुलसी के माथे पर हाथ फेरिये, आप-जैसे अपनी मर्यादा की लाज रखने वालों के दास कभी दु:खी नहीं देखे गये।। 33।।

पालो तेरे टूक को परेहू चूक मूकिये न, कूर कौड़ी दूको हौं आपनी ओर हेरिये।

भोरानाथ भोरे ही सरोष होत थोरे दोष, पोषि तोषि थापि आपनी न अवडेरिये।।

अँबु तू हौं अँबुचर, अँबु तू हौं डिंभ सो न, बूझिये बिलंब अवलंब मेरे तेरिये।

बालक बिकल जानि पाहि प्रेम पहिचानि, तुलसी की बाँह पर लामी लूम फेरिये।। 34।।

भावार्थ – आपके टुकड़ों से पला हूँ, चूक पड़ने पर भी मौन न हो जाइये। मैं कुमार्गी दो कौड़ी का हूँ, पर आप अपनी ओर देखिये। हे भोलेनाथ ! अपने भोलेपन से ही आप थोड़े से रुष्ट हो जाते हैं, सन्तुष्ट होकर मेरा पालन करके मुझे बसाइये, अपना सेवक समझकर दुर्दशा न कीजिये। आप जल हैं तो मैं मछली हूँ, आप माता हैं तो मैं छोटा बालक हूँ, देरी न कीजिये, मुझको आपका

ही सहारा है। बच्चे को व्याकुल जानकर प्रेम की पहचान करके रक्षा कीजिये, तुलसी की बाँह पर अपनी लम्बी पूँछ फेरिये (जिससे पीड़ा निर्मूल हो जावे)।। 34।।

घेरि लियो रोगनि, कुजोगनि, कुलोगनि ज्यौं, बासर जलद घन घटा धुकि धाई है।

बरसत बारि पीर जारिये जवासे जस, रोष बिनु दोष धूम-मूल मलिनाई है।।

करुनानिधान हनुमान महा बलवान, हेरि हँसि हाँकि फूँकि फौजैं ते उड़ाई है।

खाये हुतो तुलसी कुरोग राढ़ राकसनि, केसरी किसोर राखे बीर बरिआई है।। 35।।

भावार्थ - रोगों, बुरे योगों और दुष्ट लोगों ने मुझे इस प्रकार घेर लिया है जैसे दिन में बादलों का घना समूह झपटकर आकाश में दौड़ता है। पीड़ा-रूपी जल बरसाकर इन्होंने क्रोध करके बिना अपराध यशरूपी जवासे को अग्नि की तरह झुलसाकर मूर्च्छित कर दिया है। हे दया-निधान महाबलवान हनुमान जी ! आप हँसकर निहारिये और ललकार कर विपक्ष की सेना को अपनी फूँक से उड़ा दीजिये। हे केसरी किशोर वीर ! तुलसी को कुरोग-रूपी निर्दय राक्षस ने खा लिया था, आपने जोरावरी से मेरी रक्षा की है।। 35।।

सवैया

राम गुलाम तु ही हनुमान गोसाँई सुसाँई सदा अनुकूलो।

पाल्यो हौं बाल ज्यों आखर दू पितु मातु सों मंगल मोद समूलो।।

बाँह की बेदन बाँह पगार पुकारत आरत आनंद भूलो।

श्री रघुबीर निवारिये पीर रहौं दरबार परो लटि लूलो।। 36।।

भावार्थ - हे गोस्वामी हनुमान जी ! आप श्रेष्ठ स्वामी और सदा श्रीरामचन्द्र जी के सेवकों के पक्ष में रहने वाले हैं। आनन्द-मंगल के मूल दोनों अक्षरों (राम-राम) - ने माता-पिता के समान मेरा पालन किया है। हे बाहुपगार (भुजाओं का आश्रय देने वाले)! बाहु की पीड़ा से मैं सारा आनन्द भुलाकर दु:खी होकर पुकार रहा हूँ। हे रघुकुल के वीर ! पीड़ा को दूर कीजिये, जिससे दुर्बल और पंगु होकर भी आपके दरबार में पड़ा रहूँ।। 36।।

काल की करालता करम कठिनाई कीधौं, पाप के प्रभाव की सुभाय बाय बावरे।

बेदन कुभाँति सो सही न जाति राति दिन, सोई बाँह गही जो गही समीर डाबरे।।

लायो तरु तुलसी तिहारो सो निहारि बारि, सींचिये मलीन भो तयो है तिहुँ तावरे।

भूतनि की आपनी पराये की कृपा निधान, जानियत सबही की रीति राम रावरे।। 37।।

भावार्थ – न जाने काल की भयानकता है कि कर्मों की कढिनता है, पाप का प्रभाव है अथवा स्वाभाविक बात की उन्मत्तता है। रात-दिन बुरी तरह की पीड़ा हो रही है, जो सही नहीं जाती और उसी बाँह को पकड़े हुए हैं जिसको पवनकुमार ने पकड़ा था। तुलसीरूपी वृक्ष आपका ही लगाया हुआ है। यह तीनों तापों की ज्वाला से झुलसकर मुरझा गया है, इसकी ओर निहारकर कृपारूपी जल से सींचिये। हे दयानिधान रामचन्द्र जी आप भूतों की, अपनी और विराने की सबकी रीति जानते हैं।। 37।।

पाँय पीर पेट पीर बाँह पीर मुँह पीर, जरजर सकल पीर मई है।

देव भूत पितर करम खल काल ग्रह, मोहि पर दवरि दमानक सी दई है।।

हौं तो बिनु मोल के बिकानो बलि बारेही तें, ओट राम नाम की ललाट लिखि लई है।

कुँभज के किंकर बिकल बूढ़े गोखुरनि, हाय राम राय ऐसी हाल कहूँ भई है।। 38।।

भावार्थ – पाँव की पीड़ा, पेट की पीड़ा, बाहु की पीड़ा और मुख की पीड़ा – सारा शरीर पीड़ामय होकर जीर्ण-शीर्ण हो गया है। देवता, प्रेत, पितर, कर्म, काल और दुष्टग्रह – सब साथ ही दौरा करके मुझ पर तोपों की बाड़-सी दे रहे हैं। बलि जाता हूँ। मैं तो लड़कपन से ही आपके हाथ बिना मोल बिका हुआ हूँ और अपने कपाल में रामनाम का आधार लिख लिया है। हाय राजा रामचन्द्र जी ! कहीं ऐसी दशा भी हुई है कि अगस्त्य मुनि का सेवक गाय के खुर में डूब गया हो।। 38।।

बाहुक-सुबाहु नीच लीचर-मरीच मिलि, मुँहपीर केतुजा कुरोग जातुधान हैं।

राम नाम जगजाप कियो चहों सानुराग, काल कैसे दूत भूत कहा मेरे मान हैं।।

सुमिरे सहाय राम लखन आखर दोऊ, जिनके समूह साके जागत जहान हैं।

तुलसी सँभारि ताड़का सँहारि भारि भट, बेधे बरगद से बनाइ बानवान हैं।। 39।।

भावार्थ – बाहु की पीड़ा रूप नीच सुबाहु और देह की अशक्तिरूप मारीच राक्षस और ताड़कारुपिणी मुख की पीड़ा एवं अन्यान्य बुरे रोगरूप राक्षसों से मिले हुए हैं। मैं रामनाम का जपरूपी यज्ञ प्रेम के साथ करना चाहता हूँ, पर कालदूत के समान ये भूत क्या मेरे काबू के हैं? (कदापि नहीं।) संसार में जिनकी बड़ी नामवरी हो रही है वे (रा और म) दोनों अक्षर स्मरण करने पर मेरी सहायता करेंगे। हे तुलसी ! तू ताड़का का वध करने वाले भारी योद्धा का स्मरण कर, वह इन्हें अपने बाण का निशाना बनाकर बड़ के फल के समान भेदन (स्थान-च्युत) कर देंगे।। 39।।

बालपने सूधे मन राम सनमुख भयो, राम नाम लेत माँगि खात टूकटाक हौं।

परयो लोक-रीति में पुनीत प्रीति राम राय, मोह बस बैठो तोरि तरकि तराक हौं।।

खोटे-खोटे आचरन आचरत अपनायो, अंजनी कुमार सोध्यो रामपानि पाक हौं।

तुलसी गुसाँई भयो भोंडे दिन भूल गयो, ताको फल पावत निदान परिपाक हौं।। 40।।

भावार्थ – मैं बाल्यावस्था से ही सीधे मन से श्रीरामचन्द्र जी के सम्मुख हुआ, मुँह से राम नाम लेता टुकड़ा-टुकड़ी माँगकर खाता था। (फिर युवावस्था में) लोकरीति में पड़कर अज्ञानवश राजा रामचन्द्र जी के चरणों की पवित्र प्रीति को चटपट (संसार में) कूदकर तोड़ बैठा। उस समय, खोटे-खोटे आचरणों को करते हुए मुझे अंजनी कुमार ने अपनाया और रामचन्द्र जी के पुनीत हाथों से मेरा सुधार करवाया। तुलसी गोसाई हुआ, पिछले खराब दिन भुला दिये, आखिर उसी का फल आज अच्छी तरह पा रहा हूँ।। 40।।

असन-बसन-हीन बिषम-बिषाद-लीन, देखि दीन दूबरो करै न हाय हाय को।

तुलसी अनाथ सो सनाथ रघुनाथ कियो, दियो फल सील सिंधु आपने सुभाय को।।

नीच यहि बीच पति पाइ भरु हाईगो, बिहाइ प्रभु भजन बचन मन काय को।

ता तें तनु पेषियत घोर बरतोर मिस, फूटि फूटि निकसत लोन राम राय को।। 41।।

भावार्थ - जिसे भोजन-वस्त्र से रहित भयंकर विषाद में डूबा हुआ और दीन-दुर्बल देखकर ऐसा कौन था, जो हाय-हाय नहीं करता था, ऐसे अनाथ तुलसी को दयासागर स्वामी रघुनाथ जी ने सनाथ करके अपने स्वभाव से उत्तम फल दिया। इस बीच में यह नीच जन प्रतिष्ठा पाकर फूल उठा (अपने को बड़ा समझने लगा) और तन-मन-वचन से रामजी का भजन छोड़ दिया, इसी से शरीर में से भयंकर बरतोर के बहाने रामचन्द्र जी का नमक फूट-फूटकर निकलता दिखायी दे रहा है।। 41।।

जीओं जग जानकी जीवन को कहाइ जन, मरिबे को बारानसी बारि सुरसरि को।

तुलसी के दुहूँ हाथ मोदक हैं ऐसे ठाँउ, जाके जिये मुये सोच करिहैं न लरि को।।

मोको झूटो साँचो लोग राम को कहत सब, मेरे मन मान है न हर को न हरि को।

भारी पीर दुसह सरीर तें बिहाल होत, सोऊ रघुबीर बिनु सकै दूर करि को।। 42।।

भावार्थ - जानकी-जीवन रामचन्द्र जी का दास कहलाकर संसार में जीवित रहूँ और मरने के लिये काशी तथा गंगाजल अर्थात् सुरसरि तीर है। ऐसे स्थान में (जीवन-मरण से) तुलसी के दोनों हाथों में लड्डू है, जिसके जीने-मरने से लड़के भी सोच न करेंगे। सब लोग मुझको झूठा-सच्चा राम का ही दास कहते हैं और मेरे मन में भी इस बात का गर्व है कि मैं रामचन्द्र जी को छोड़कर न शिव का भक्त हूँ, न विष्णु का। शरीर की भारी पीड़ा से विकल हो रहा हूँ, उसको बिना रघुनाथ जी के कौन दूर कर सकता है?।। 42।।

सीतापति साहेब सहाय हनुमान नित, हित उपदेश को महेस मानो गुरु कै।

मानस बचन काय सरन तिहारे पाँय, तुम्हरे भरोसे सुर मैं न जाने सुर कै।।

ब्याधि भूत जनित उपाधि काहु खल की, समाधि कीजे तुलसी को जानि जन फुर कै।

कपिनाथ रघुनाथ भोलानाथ भूतनाथ, रोग सिंधु क्यों न डारियत गाय खुर कै।। 43।।

भावार्थ – हे हनुमान जी ! स्वामी सीतानाथ जी आपके नित्य ही सहायक हैं और हितोपदेश के लिये महेश मानो गुरु ही हैं। मुझे तो तन, मन, वचन से आपके चरणों की ही शरण है, आपके भरोसे मैंने देवताओं को देवता करके नहीं माना। रोग व प्रेत द्वारा उत्पन्न अथवा किसी दुष्ट के उपद्रव से हुई पीड़ा को दूर करके तुलसी को अपना सच्चा सेवक जानकर इसकी शान्ति कीजिये। हे कपिनाथ, रघुनाथ, भोलानाथ भूतनाथ ! रोगरूपी महासागर को गाय के खुर के समान क्यों नहीं कर डालते?।। 43।।

कहों हनुमान सों सुजान राम राय सों, कृपानिधान संकर सों सावधान सुनिये।

हरष विषाद राग रोष गुन दोष मई, बिरची बिरंची सब देखियत दुनिये।।

माया जीव काल के करम के सुभाय के, करैया राम बेद कहैं साँची मन गुनिये।

तुम्ह तें कहा न होय हा हा सो बुझैये मोहि, हौं हूँ रहों मौनही बयो सो जानि लुनिये।। 44।।

भावार्थ – मैं हनुमान जी से, सुजान राजा राम से और कृपानिधान शंकर जी से कहता हूँ, उसे सावधान होकर सुनिये। देखा जाता है कि विधाता ने सारी दुनिया को हर्ष, विषाद, राग, रोष, गुण और दोषमय बनाया है। वेद कहते हैं कि माया, जीव, काल, कर्म और स्वभाव के करने वाले रामचन्द्र जी हैं। इस बात को मैंने चित्त में सत्य माना है। मैं विनती करता हूँ, मुझे यह समझा दीजिये कि आपसे क्या नहीं हो सकता। फिर मैं भी यह जानकर चुप रहूँगा कि जो बोया है वही काटता हूँ।। 44।।

संवत् 1664 विक्रमाब्द के लगभग गोस्वामी तुलसीदास जी की बाहुओं में वात-व्याधि की गहरी पीड़ा उत्पन्न हुई थी और फोड़े-फुंसियों के कारण सारा शरीर वेदना का स्थान-सा बन गया था। औषध, यन्त्र, मन्त्र, त्रोटक आदि अनेक उपाय किये गये, किन्तु घटने के बदले रोग दिनोंदिन बढ़ता ही जाता था। असहनीय कष्टों से हताश होकर अन्त में उसकी निवृत्ति के लिये गोस्वामी तुलसीदास जी ने हनुमान जी की वन्दना आरम्भ की। अंजनी कुमार की कृपा से उनकी सारी व्यथा नष्ट हो गयी। वही 44 पद्यों का 'हनुमान बाहुक' नामक प्रसिद्ध स्तोत्र है। असंख्य हरिभक्त श्रीहनुमान जी के उपासक निरन्तर इसका पाठ करते हैं और अपने वांछित मनोरथ को प्राप्त करके प्रसन्न होते हैं। संकट के

समय इस सद्य:फलदायक स्तोत्र का श्रद्धा-विश्वासपूर्वक पाठ करना रामभक्तों के लिये परमानन्ददायक सिद्ध हुआ है।

पाँय पीर पेट पीर बाँह पीर मुँह पीर, जरजर सकल सरीर पीर मई है।

तुलसीदास के जीवन की ऐतिहासिक घटनाएं

तुलसीदास के जीवन की कुछ घटनाएं एवं तिथियां भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। कवि के जीवन-वृत्त और महिमामय व्यक्तित्त्व पर उनसे प्रकाश पड़ता है।

यज्ञोपवीत

मूल गोसाईं चरित के अनुसार तुलसीदास का यज्ञोपवीत माघ शुक्ला पंचमी सं0 1561 में हुआ–

पन्द्रह सै इकसठ माघसुदी। तिथि पंचमि औ भृगुवार उदी।
सरजू तट विप्रन जग्य किए। द्विज बालक कहं उपबीत किए।।

कवि के माता-पिता की मृत्यु कवि के बाल्यकाल में ही हो गई थी।

विवाह

जनश्रुतियों एवं रामायणियों के विश्वास के अनुसार तुलसीदास विरक्त होने के पूर्व भी कथा-वाचन करते थे। युवक कथावाचक की विलक्षण प्रतिभा और दिव्य भगवद्भक्ति से प्रभावित होकर रत्नावली के पिता पं0 दीन बंधु पाठक ने एक दिन, कथा के अन्त में, श्रोताओं के विदा हो जाने पर, अपनी बारह वर्षीया कन्या उसके चरणों में सौंप दी। मूल गोसाईं चरित के अनुसार रत्नावली के साथ युवक तुलसी का यह वैवाहिक सूत्र सं0 1583 की ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी, दिन गुरुवार को जुड़ा था–

पंद्रह सै पार तिरासी विषै।
सुभ जेठ सुदी गुरु तेरसि पै।
अधिराति लगै जु फिरै भंवरी।
दुलहा दुलही की परी पंवरी।।

आराध्य-दर्शन

भक्त शिरोमणि तुलसीदास को अपने आराध्य के दर्शन भी हुए थे। उनके जीवन के वे सर्वोत्तम और महत्तम क्षण रहे होंगे। लोक-श्रुतियों के अनुसार

तुलसीदास को आराध्य के दर्शन चित्रकूट में हुए थे। आराध्य युगल राम-लक्ष्मण को उन्होंने तिलक भी लगाया था–

चित्रकूट के घाट पै, भई संतन की भीर।
तुलसीदास चंदन घिसै, तिलक देत रघुबीर॥

मूल गोसाईं चरित के अनुसार कवि के जीवन की वह पवित्रतम तिथि माघ अमावस्या (बुधवार), सं0 1607 को बताया गया है।

सुखद अमावस मौनिया, बुध सोरह सै सात।
जा बैठे तिसु घाट पै, विरही होतहि प्रात॥

गोस्वामी तुलसीदास के महिमान्वित व्यक्तित्त्व और गरिमान्वित साधना को ज्योतित करने वाली एक और घटना का उल्लेख मूल गोसाईं चरित में किया गया है। तुलसीदास नंददास से मिलने बृंदावन पहुंचे। नंददास उन्हें कृष्ण मंदिर में ले गए। तुलसीदास अपने आराध्य के अनन्य भक्त थे। तुलसीदास राम और कृष्ण की तात्त्विक एकता स्वीकार करते हुए भी राम-रूप श्यामघन पर मोहित होने वाले चातक थे, अतः घनश्याम कृष्ण के समक्ष नतमस्तक कैसे होते। उनका भाव-विभोर कवि का कण्ठ मुखर हो उठा–

कहा कहौं छवि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, जब धनुष बान लो हाथ॥

इतिहास साक्षी दे या नहीं, किन्तु लोक-श्रुति साक्षी देती है कि कृष्ण की मूर्ति राम की मूर्ति में बदल गई थी।

रत्नावली का महाप्रस्थान

रत्नावली का बैकुंठ गमन 'मूल गोसाईं चरित' के अनुसार सं0 1589 में हुआ। किंतु राजापुर की सामग्रियों से उसके दीर्घ जीवन का समर्थन होता है।

मीराबाई का पत्र

महात्मा बेनी माधव दास ने मूल गोसाईं चरित में मीराबाई और तुलसीदास के पत्राचार का उल्लेख किया है। अपने परिवार वालों से तंग आकर मीराबाई ने तुलसीदास को पत्र लिखा। मीराबाई ने पत्र के द्वारा तुलसीदास से दीक्षा ग्रहण करनी चाही थी। मीरा के पत्र के उत्तर में विनयपत्रिका के निम्नांकित पद की रचना की गई:–

जाके प्रिय न राम वैदेही
तजिए ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।
सो छोड़िये
तज्यो पिता प्रहलाद, विभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलिगुरु तज्यो कंत ब्रजबनितन्हि, भये मुद मंगलकारी।
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहां लौं।
अंजन कहां आंखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहां लौं।
तुलसी सो सब भांति परमहित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों हाय सनेह राम-पद, एतोमतो हमारो॥

तुलसीदास ने मीराबाई को भक्ति-पथ के बाधकों के परित्याग का परामर्श दिया था।

केशवदास से संबद्ध घटना

मूल गोसाईं चरित के अनुसार केशवदास गोस्वामी तुलसीदास से मिलने काशी आए थे। उचित सम्मान न पा सकने के कारण वे लौट गए।

अकबर के दरबार में बंदी बनाया जाना

तुलसीदास की ख्याति से अभिभूत होकर अकबर ने तुलसीदास को अपने दरबार में बुलाया और कोई चमत्कार प्रदर्शित करने को कहा। यह प्रदर्शन-प्रियता तुलसीदास की प्रकृति और प्रवृत्ति के प्रतिकूल थी, अतः ऐसा करने से उन्होंने इन्कार कर दिया। इस पर अकबर ने उन्हें बंदी बना लिया। तदुपरांत राजधानी और राजमहल में बंदरों का अभूतपूर्व एवं अद्‌भुत उपद्रव शुरू हो गया। अकबर को बताया गया कि यह हनुमान जी का क्रोध है। अकबर को विवश होकर तुलसीदास को मुक्त कर देना पड़ा।

जहांगीर को तुलसी-दर्शन

जिस समय वे अनेक विरोधों का सामना कर सफलताओं और उपलब्धियों के सर्वोच्च शिखर का स्पर्श कर रहे थे, उसी समय दर्शनार्थ जहांगीर के आने का उल्लेख किया गया मिलता है।

दांपत्य जीवन

सुखद दांपत्य जीवन का आधार अर्थ प्राचुर्य नहीं, पति-पत्नी का पारस्परिक प्रेम, विश्वास और सहयोग होता है। तुलसीदास का दांपत्य जीवन आर्थिक विपन्नता के बावजूद संतुष्ट और सुखी था। भक्तमाल के प्रियादास की टीका से पता चलता है कि जीवन के वसंत काल में तुलसी पत्नी के प्रेम में सराबोर थे। पत्नी का वियोग उनके लिए असह्य था। उनकी पत्नी-निष्ठा दिव्यता को उल्लंघित कर वासना और आसक्ति की ओर उन्मुख हो गई थी।

रत्नावली के मायके चले जाने पर शव के सहारे नदी को पार करना और सर्प के सहारे दीवाल को लांघकर अपने पत्नी के निकट पहुंचना। पत्नी की फटकार ने भोगी को जोगी, आसक्त को अनासक्त, गृहस्थ को संन्यासी और भांग को भी तुलसीदल बना दिया। वासना और आसक्ति के चरम सीमा पर आते ही उन्हें दूसरा लोक दिखाई पड़ने लगा। इसी लोक में उन्हें मानस और विनयपत्रिका जैसी उत्कृष्टतम रचनाओं की प्रेरणा और सिसृक्षा मिली।

वैराग्य की प्रेरणा

तुलसीदास के वैराग्य ग्रहण करने के दो कारण हो सकते हैं। प्रथम, अतिशय आसक्ति और वासना की प्रतिक्रिया और दूसरा, आर्थिक विपन्नता। पत्नी की फटकार ने उनके मन के समस्त विकारों को दूर कर दिया। दूसरा कारण विनयपत्रिका के निम्नांकित पदांशों से प्रतीत होता है कि आर्थिक संकटों से परेशान तुलसीदास को देखकर सन्तों ने भगवान राम की शरण में जाने का परामर्श दिया–

दुखित देखि संतन कह्यो, सोचौ जनि मन मोहूं
तो से पसु पातकी परिहरे न सरन गए रघुबर ओर निबाहूं॥
तुलसी तिहारो भये भयो सुखी प्रीति-प्रतीति विनाहू।
नाम की महिमा, सीलनाथ को, मेरो भलो बिलोकि, अबतें॥

रत्नावली ने भी कहा था कि इस अस्थि - चर्ममय देह में जैसी प्रीति है, ऐसी ही प्रीति अगर भगवान राम में होती तो भव-भीति मिट जाती। इसीलिए वैराग्य की मूल प्रेरणा भगवदाराधन ही है।

गोस्वामी तुलसीदास और उनका युग

हिंदी साहित्य में महाकवि तुलसीदास का युग सदा अमर रहेगा। वे भक्तकवि शिरोमणि थे। तुलसी ने लोकसंग्रह के लिए सगुण उपासना का मार्ग

चुना और रामभक्ति के निरूपण को अपने साहित्य का उद्देश्य बनाया। तुलसीदास का भक्तिमार्ग वेदशास्त्र पर आधारित है। कवि के रूप में उन्होंने अपने साहित्य में श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वेदन, दास्य, साख्य और आत्म-निवेदन इन सभी पक्षों का प्रतिपादन बड़ी ही कुशलतापूर्वक किया है। वस्तुतः तुलसीदास जी एक उच्चकोटि के कवि और भक्त थे तथा उनका हृदय भक्ति के पवित्रतम भावों से परिपूर्ण था। तुलसी का अपने साहित्य में भाषा और भावों पर पूर्ण अधिकार था। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। लोकहित की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने जनभाषाओं को ही अपने साहित्य का माध्यम बनाया। उन्होंने ब्रज एवं अवधी दोनों भाषाओं में साहित्य की रचना की। जनता में प्रचलित सोहर, बहूगीत, चाचर, बेली, बसंत आदि रागों में भी रामकथा लिखी।

गोस्वामी जी के साहित्य में जीवन की सभी परिस्थितियों का वर्णन है। उन्होंने प्रत्येक काव्य में मानवीय संवेदना की अभिव्यक्ति की है। वे राम के अनन्य भक्त हैं। उन्हें केवल राम पर ही विश्वास है। राम पर पूर्ण विश्वास करते हुए उन्होंने उनके उस मंगलकारी रूप को समाज के सामने प्रस्तुत किया है, जो सम्पूर्ण जीवन को विपरीत धाराओं और प्रवाहों के बीच संगति प्रदान कर उसे अग्रसर करने में सहायक है। वास्तव में तुलसी प्रणीत रामचरित मानस भारतीय समाज को ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व को सत्यम् शिवम् सुंदरम् से पूर्ण सर्वमंगल के लक्ष्य की ओर अग्रसर करने में समर्थ है। तुलसीदास ने आदर्शवाद पर भी बहुत सारी बातें लिखी हैं। इस प्रकार तुलसी का साहित्य आज भी प्रासंगिक है व देश की जनता का मार्गदर्शन कर रहा है।

तुलसी का काव्य और युग संदर्भ

काव्यशास्त्रीय आलोचना के समानान्तर समाजशास्त्रीय आलोचना का यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है कि प्रत्येक साहित्यकार के जीवन और साहित्य पर उसके समाज और परिवेश का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ता है। किन्तु समाज का दर्पण होने के साथ-साथ साहित्य समाज के निर्माण और दिशा-निर्देश में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। तुलसी की रचनाएं भारतीय जीवन और संस्कृति की धुरी कही जा सकती हैं। तुलसी की रामकथा में एक ओर उनका युग झलकता है, दूसरी ओर समाज के विषय में उनकी परिकल्पना भी उद्‌भासित होती है। राम कथा कहते हुए तुलसी ने जीवन की व्यावहारिकता से कहीं भी दृष्टि नहीं हटाई

है। प्रबन्धकाव्य होने के कारण– मानस में युग और संस्कृति को चित्रित करने के पर्याप्त अवसर थे।

कवितावली के बालकांड से लंकाकांड तक रामकथा को समर्पित है तो उसके संपूर्ण कलेवर का आधे से अधिक भाग- उत्तरकांड तुलसी के व्यक्तिगत जीवन और युगीन परिस्थितियों को व्यक्त करता है। तुलसी ने अपने समय के अकाल, आर्थिक वैषम्य, स्वार्थी शासकों एवम् सामाजिक दूषित वातावरण का चित्रण किया है। तुलसी ने कवितावली में अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों को रेखांकित करने के अवसर ढूंढ निकाले हैं। जीवन और समाज को खोखला करके पतन की ओर ढकेलने वाले सभी विषय और परिस्थितियां तुलसी की चिन्ता का विषय है। इनमें बदलाव ही जीवन को वांछनीय स्वरूप प्रदान कर सकता है। जिसे स्वयं तुलसी ने 'रामराज्य' की संज्ञा से अभिहित किया है।

समय के साथ-साथ प्रत्येक युग और रचना-चेतना में परिवर्तन होता रहता है। युग चेतना में बदलाव से कवि और पाठक दोनों के स्वभाव, साहित्यिक रुचि और संस्कारों में परिवर्तन होता है। जब प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आज के युग और जीवन में तुलसी के काव्य की क्या सार्थकता है? तुलसी के सम्पूर्ण काव्य की तरह 'कवितावली' में भी राम का मर्यादा पुरूषोत्तम रूप ही प्रस्तुत है। अवतारी या अलौकिक पुरुष से अधिक राम व्यापक जीवन मूल्यों के प्रतीक 'महामानव' हैं।

वे आदर्श व्यक्ति, आदर्श संतान, पारम्परिक मूल्यों और आदर्शों को अपनाने वाले ऐसे 'मानव' हैं, जो अवसर आने पर अपनी सोच और मति से स्वतंत्र निर्णय लेने की क्षमता भी रखते हैं। माता -पिता और प्रजाजनों द्वारा रोके जाने पर भी महल में न रहकर वन जाने या देशाटन का निर्णय लेते हैं। देशाटन करते हुए ग्रामीण स्त्री-पुरुषों से घुल-मिल जाते हैं, ऋषि-मुनियों के जीवन स्तर और मूल्यों की कसौटी पर भी खरे उतरते हैं। भ्रष्ट होती वर्ण-व्यवस्था को सहेजने की कोशिश करते हैं। जन्म से अधिक कर्म और मानव-प्रेम में विश्वास करते हैं। बाद में नवजागरण के युग में हमारे समाजचेत्ता और साहित्य मनीषियों ने भी राम की प्रतिष्ठा मात्र भगवान के रूप में न कर इसी प्रकार मानव-ईश्वर के रूप में की है। तुलसी मंदिरों में मूर्ति रूप में स्थापित अपने आराध्य की प्रतिष्ठा सामाजिक जीवन में करते हैं और उसे सामाजिक जीवन की धड़कन बना देते हैं। जिसे आस्तिक मानववाद कहा जा सकता है।

6

सूरदास की रचनाओं में लोक जीवन

सूरदास कवियों में सर्वोपरि है। हिन्दी साहित्य में भगवान श्री कृष्ण के अनन्य उपासक और ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि महात्मा सूरदास हिंदी साहित्य, के सूर्य, माने जाते हैं। कुछ सीही नामक संस्था को सूरदास का जन्म स्थल मानते हैं। सूरदास जन्म से अंधे थे या नहीं इस सम्बंध में भी विद्वानों में मतभेद है उन्होंने हिंदी भाषा को ऊँचा रखने की कोशिश की।

जीवन परिचय

सूरदास का जन्म 1540 ई0 में रुनकता नामक गाँव में हुआ। यह गाँव मथुरा-आगरा मार्ग के किनारे स्थित है। कुछ विद्वानों का मत है कि सूर का जन्म सीही नामक ग्राम में एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वह बहुत विद्वान थे, उनकी लोग आज भी चर्चा करते हैं।--- मथुरा के बीच गऊघाट पर आकर रहने लगे थे। सूरदास के पिता, रामदास गायक थे। सूरदास के जन्मांध होने के विषय में मतभेद है। प्रारंभ में सूरदास आगरा के समीप गऊघाट पर रहते थे। वहीं उनकी भेंट श्री वल्लभाचार्य से हुई और वे उनके शिष्य बन गए। वल्लभाचार्य ने उनको पुष्टिमार्ग में दीक्षित कर के कृष्णलीला के पद गाने का आदेश दिया। सूरदास की मृत्यु गोवर्धन के निकट पारसौली ग्राम में 1580 ईस्वीं में हुई।

सूरदास बनना?

मदन मोहन एक बहुत ही सुन्दर और तेज बुद्धि के नवयुवक थे वह हर दिन नदी के किनारे जा कर बैठ जाता और गीत लिखता। एक दिन एक ऐसा वाकया हुआ जिसने उसके मन को मोह लिया। हुआ ये कि एक सुन्दर नवयुवती नदी किनारे कपड़े धो रही थी, मदन मोहन का ध्यान उसकी तरफ चला गया। उस युवती ने मदन मोहन को ऐसा आकर्षित किया कि वह कविता लिखना भूल गए और पूरा ध्यान लगा कर उस युवती को देखने लगे। उनको ऐसा लगा मानो यमुना किनारे राधिका स्नान कर के बैठी हो। उस नवयुवती ने भी मदन मोहन की तरफ देखा और उनके पास आकर बोली आप मदन मोहन जी हो ना? तो वह बोले, हां मैं मदन मोहन हूँ। कवितायें लिखता हूँ तथा गाता हूँ आपको देखा तो रुक गया। नवयुवती ने पूछा क्यों? तो वह बोले आप हो ही इतनी सुन्दर। यह सिलसिला कई दिनों तक चला। जब यह बात मदन मोहन के पिता को पता चली तो उनको बहुत क्रोध आया। फिर मदन मोहन ने उसका घर छोड़ दिया। पर उस सुन्दर युवती का चेहरा उनके सामने से नहीं जा रहा था एक दिन वह मंदिर में बैठे थे तभी वह एक शादीशुदा बहुत ही सुन्दर स्त्री आई। मदन मोहन उनके पीछे पीछे चल दिए। जब वह उसके घर पहुंचे तो उसके पति ने दरवाजा खोला तथा पूरे आदर सम्मानं के साथ उन्हें अंदर बिठाया। फिर मदन मोहन ने दो जलती हुए सिलाया मांगी तथा अपनी आँख में डाल दी। इस तरह मदन मोहन बने महान कवि सूरदास।

सूरदास की जन्मतिथि एवं जन्मस्थान के विषय में मतभेद

सूरदास की जन्मतिथि एवं जन्मस्थान के विषय में विद्वानों में मतभेद है। 'साहित्य लहरी' सूर की लिखी रचना मानी जाती है। इसमें साहित्य लहरी के रचना-काल के सम्बन्ध में निम्न पद मिलता है -

मुनि पुनि के रस लेख।
दसन गौरीनन्द को लिखि सुवल संवत् पेख।

इसका अर्थ संवत् 1607 ईस्वीं में माना गया है, अतएव 'साहित्य लहरी' का रचना काल संवत् 1607 वि. है। इस ग्रन्थ से यह भी प्रमाण मिलता है कि सूर के गुरु श्री वल्लभाचार्य थे।

सूरदास का जन्म सं. 1540 ईस्वी के लगभग ठहरता है, क्योंकि बल्लभ सम्प्रदाय में ऐसी मान्यता है कि वल्लभाचार्य सूरदास से दस दिन बड़े थे और

वल्लभाचार्य का जन्म उक्त संवत् की वैशाख कृष्ण एकादशी को हुआ था। इसलिए सूरदास की जन्म-तिथि वैशाख शुक्ला पंचमी, संवत् 1535 वि. समीचीन जान पड़ती है। अनेक प्रमाणों के आधार पर उनका मृत्यु संवत् 1620 से 1648 ईस्वीं के मध्य स्वीकार किया जाता है। रामचन्द्र शुक्ल जी के मतानुसार सूरदास का जन्म संवत् 1540 वि. के सन्निकट और मृत्यु संवत् 1620 ईस्वीं के आस-पास माना जाता है।

श्री गुरु वल्लभ तत्त्व सुनायो लीला भेद बतायो।

सूरदास की आयु 'सूरसारावली' के अनुसार उस समय 67 वर्ष थी। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के आधार पर उनका जन्म रुनकता अथवा रेणु का क्षेत्र (वर्तमान जिला आगरान्तर्गत) में हुआ था। मथुरा और आगरा के बीच गऊघाट पर ये निवास करते थे। वल्लभाचार्य से इनकी भेंट वहीं पर हुई थी। 'भावप्रकाश' में सूर का जन्म स्थान सीही नामक ग्राम बताया गया है। वे सारस्वत ब्राह्मण थे और जन्म के अंधे थे। 'आइने अकबरी' में (संवत् 1653 ईस्वीं) तथा 'मुतखबुत-तवारीख' के अनुसार सूरदास को अकबर के दरबारी संगीतज्ञों में माना है।

क्या सूरदास जन्मान्ध थे?

सूरदास श्रीनाथ की 'संस्कृतवार्ता मणिपाला', श्री हरिराय कृत 'भाव-प्रकाश', श्री गोकुलनाथ की 'निजवार्ता' आदि ग्रन्थों के आधार पर, जन्म के अन्धे माने गए हैं। लेकिन राधा-कृष्ण के रूप सौन्दर्य का सजीव चित्रण, नाना रंगों का वर्णन, सूक्ष्म पर्यवेक्षणशीलता आदि गुणों के कारण अधिकतर वर्तमान विद्वान सूर को जन्मान्ध स्वीकार नहीं करते।

श्यामसुन्दर दास ने इस सम्बन्ध में लिखा है - 'सूर वास्तव में जन्मान्ध नहीं थे, क्योंकि शृंगार तथा रंग-रूपादि का जो वर्णन उन्होंने किया है वैसा कोई जन्मान्ध नहीं कर सकता।' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, ने लिखा है - 'सूरसागर के कुछ पदों से यह ध्वनि अवश्य निकलती है कि सूरदास अपने को जन्म का अन्धा और कर्म का अभागा कहते हैं, पर सब समय इसके अक्षरार्थ को ही प्रधान नहीं मानना चाहिए।'

रचनाएँ

सूरदास जी द्वारा लिखित पाँच ग्रन्थ बताए जाते हैं:-

(1) सूरसागर - यह सूरदास की प्रसिद्ध रचना है। जिसमें सवा लाख पद संग्रहित थे। किंतु अब सात-आठ हजार पद ही मिलते हैं।

(2) सूरसारावली

(3) साहित्य-लहरी - जिसमें उनके कूट पद संकलित हैं।

(4) नल-दमयन्ती

(5) ब्याहलो

(6) 'पद संग्रह' दुर्लभ पद 7-xgramar geet

उपरोक्त में अन्तिम दो अप्राप्य हैं।

नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित पुस्तकों की विवरण तालिका में सूरदास के 16 ग्रन्थों का उल्लेख है। इनमें सूरसागर, सूरसारावली, साहित्य लहरी, नल-दमयन्ती, ब्याहलो के अतिरिक्त दशमस्कंध टीका, नागलीला, भागवत्, गोवर्धन लीला, सूरपचीसी, सूरसागर सार, प्राणप्यारी, आदि ग्रन्थ सम्मिलित हैं। इनमें प्रारम्भ के तीन ग्रंथ ही महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं, साहित्य लहरी की प्राप्त प्रति में बहुत प्रक्षिप्तांश जुड़े हुए हैं।

'साहित्य लहरी, सूरसागर, सूर की सारावली। श्रीकृष्ण जी की बाल-छवि पर लेखनी अनुपम चली।।'

सूरसागर का मुख्य वर्ण्य विषय श्री कृष्ण की लीलाओं का गान रहा है।

सूरसारावली में कवि ने जिन कृष्ण विषयक कथात्मक और सेवा परक पदों का गान किया उन्हीं के सार रूप में उन्होंने सारावली की रचना की है।

साहित्यलहरी में सूर के दृष्टिकूट पद संकलित हैं।

सूरदास की काव्यगत विशेषताएँ

1. सूरदास के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण के अनुग्रह से मनुष्य को सद्गति मिल सकती है। अटल भक्ति कर्मभेद, जातिभेद, ज्ञान, योग से श्रेष्ठ है।
2. सूर ने वात्सल्य,शृंगार और शांत रसों को मुख्य रूप से अपनाया है। सूर ने अपनी कल्पना और प्रतिभा के सहारे कृष्ण के बाल्य-रूप का अति सुंदर, सरस, सजीव और मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है। बालकों की चपलता, स्पर्द्धा, अभिलाषा, आकांक्षा का वर्णन करने में विश्व व्यापी बाल-स्वरूप का चित्रण किया है। बाल-कृष्ण की एक-एक चेष्टा के चित्रण में कवि ने कमाल की होशियारी एवं सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है-

मैया कबहिं बढ़ैगी चौटी?

किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।

सूर के कृष्ण प्रेम और माधुर्य प्रतिमूर्ति है। जिसकी अभिव्यक्ति बड़ी ही स्वाभाविक और सजीव रूप में हुई है।

3. जो कोमलकांत पदावली, भावानुकूल शब्द-चयन, सार्थक अलंकार-योजना, धारावाही प्रवाह, संगीतात्मकता एवं सजीवता सूर की भाषा में है, उसे देखकर तो यही कहना पड़ता है कि सूर ने ही सर्व प्रथम ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप दिया है।

4. सूर ने भक्ति के साथ श्रृंगार को जोड़कर उसके संयोग-वियोग पक्षों का जैसा वर्णन किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

5. सूर ने विनय के पद भी रचे हैं, जिसमें उनकी दास्य-भावना कहीं-कहीं तुलसीदास से आगे बढ़ जाती है-

हमारे प्रभु औगुन चित्त न धरौ।

समदरसी है मान तुम्हारौ, सोई पार करौ।

6. सूर ने स्थान-स्थान पर कूट पद भी लिखे हैं।

7. प्रेम के स्वच्छ और मार्जित रूप का चित्रण भारतीय साहित्य में किसी और कवि ने नहीं किया है यह सूरदास की अपनी विशेषता है। वियोग के समय राधिका का, जो चित्र सूरदास ने चित्रित किया है, वह इस प्रेम के योग्य है

8. सूर ने यशोदा आदि के शील, गुण आदि का सुंदर चित्रण किया है।

9. सूर का भ्रमरगीत वियोग-श्रृंगार का ही उत्कृष्ट ग्रंथ नहीं है, उसमें सगुण और निर्गुण का भी विवेचन हुआ है। इसमें विशेषकर उद्धव-गोपी संवादों में हास्य-व्यंग्य के अच्छे छींटें भी मिलते हैं।

10. सूर काव्य में प्रकृति-सौंदर्य का सूक्ष्म और सजीव वर्णन मिलता है।

11. सूर की कविता में पुराने आख्यानों और कथनों का उल्लेख बहुत स्थानों में मिलता है।

12. सूर के गेय पदों में हृदयस्थ भावों की बड़ी सुंदर व्यजना हुई है। उनके कृष्ण-लीला संबंधी पदों में सूर के भक्त और कवि हृदय की सुंदर झाँकी मिलती है।

13. सूर का काव्य भाव-पक्ष की दृष्टि से ही महान नहीं है, कला-पक्ष की दृष्टि से भी वह उतना ही महत्त्वपूर्ण है। सूर की भाषा सरल, स्वाभाविक तथा वाग्वैदिग्धपूर्ण है। अलंकार-योजना की दृष्टि से भी उनका कला-पक्ष सबल

है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सूर की कवित्व-शक्ति के बारे में लिखा है-

सूरदास जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानो अलंकार-शास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है। उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास हिंदी साहित्य के महाकवि हैं, क्योंकि उन्होंने न केवल भाव और भाषा की दृष्टि से साहित्य को सुसज्जित किया, वरन् कृष्ण-काव्य की विशिष्ट परंपरा को भी जन्म दिया।

सूरदास जी की जीवनी और साहित्यिक परिचय

सूरदास जी को भक्तिकाल की कृष्णाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि व वात्सल्य रस का सम्राट माना जाता है। इन्होंने अपने पदों में श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं और प्रेमलीलाओं का बहुत मनमोहक चित्रण किया है। हिंदी कविता कामिनी के इस कमनीय कांत ने हिंदी भाषा को समृद्ध करने में, जो योगदान दिया है, वह अद्वितीय है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इनके विषय में लिखा भी है, ''वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक वर्णन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया, उतना संसार के किसी और कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का वे कोना-कोना झाँक आए।''

श्यामसुंदर दास ने इनके बारे में लिखा है-''सूर वास्तव में जन्मान्ध नहीं थे, क्योंकि शृंगार व रंग-रूपादि का जो वर्णन उन्होंने किया है वैसा कोई जन्मान्ध नहीं कर सकता।'' अतः ऐसा माना जाता है कि ये जन्म के बाद अंधे हुए होंगे। सूरदास जी द्वारा लिखित निम्न पंक्ति से इस बात का पता चलता है-'श्री गुरु बल्लभ तत्त्व सुनायो, लीला भेद बतायो।' सूरदास जी पहले दीनता के पद गाया करते थे, किंतु वल्लभाचार्य के संपर्क में आने के बाद ये कृष्ण लीला का गान करने लगे। सूरदास से प्रभावित होकर ही तुलसीदास ने 'श्रीकृष्णगीतावली' की रचना की थी।

वल्लभाचार्य के पुत्र बिट्ठलनाथ ने 'अष्टछाप' के नाम से आठ कृष्णभक्त कवियों का संगठन किया था। सूरदास अष्टछाप के सर्वश्रेष्ठ कवि थे। विट्ठलनाथ ने इन्हें 'पुष्टिमार्ग का जहाज' कहा है। इनका देहावसान सन् 1583 ई. में गोसाई विट्ठलनाथ के सामने गोवर्द्धन की तलहटी में पारसोली नामक ग्राम में हुआ था। निम्नलिखित गुरु वंदना संबंधी पद का गान करते हुए इन्होंने अपने शरीर को त्यागा–

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।

श्रीवल्लभ नख-छंद-छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो।।

साहित्यिक परिचय– सूरदार ने प्रेम और विरह के द्वारा सगुण मार्ग से कृष्ण को साध्य माना था। उनके कृष्ण सखा रूप में सर्वशक्तिमान परमेश्वर थे। सूरदास ने कृष्ण की बाल-लीलाओं का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया है। बाल-जीवन का कोई पक्ष ऐसा नहीं, जिस पर इनकी दृष्टि न पड़ी हो। इसलिए इनका बाल-वर्णन विश्व-साहित्य की अमर-निधि बन गया है। 'सूरदास' का एक प्रसंग 'भ्रमरगीत' कहलाता है। इस प्रसंग में गोपियों के प्रेमावेश ने ज्ञानी उद्धव को भी प्रेमी व भक्त बना दिया। इनके विरह-वर्णन में गोपियों के साथ-साथ ब्रज की प्रकृति भी विषादमग्न दिखाई देती है।

सूरदास और उनका काव्य

महाकवि सूरदास हिन्दी के श्रेष्ठ भक्त कवि थे। उनका संपूर्ण काव्य ब्रजभाषा का शृंगार है, जिसमें विभिन्न राग, रागनियों के माध्यम से एक भक्त हृदय के भावपूर्ण उद्‌गार व्यक्त हुए हैं। कृष्ण, गाय, वृंदावन, गोकुल, मथुरा, यमुना, मधुवन, मुरली, गोप, गोपी आदि के साथ-साथ संपूर्ण ब्रज-जीवन, संस्कृति एवं सभ्यता के संदर्भ में उनकी वीणा ने जो कुछ गाया, उसके स्वर और शब्द, शताब्दियां बीत जाने पर भी भारतीय काव्य की संगीत के रूप में व्याप्त हैं। उनके काव्य का अंतरंग एवं बहिरंग पक्ष अत्यंत सुदृढ़ और प्रौढ़ है तथा अतुलित माधुर्य, अनुपम सौंदर्य और अपरिमित सौष्ठव से भरा पड़ा है।

काव्य पक्ष

काव्य के मुख्य रूप से दो पक्ष होते हैं-

1. भावपक्ष
2. कलापक्ष

भावपक्ष काव्य का आंतरिक गुण है। इसका संबंध कवि की सहृदयता और भावुकता से होता है। काव्य के शरीर तत्त्व को कलापक्ष कहते हैं। इसका संबंध कवि की चतुरता और रचना-कौशल से होता है। भावपक्ष एवं कलापक्ष से समन्वित काव्य ही श्रेष्ठ काव्य का उदाहरण माना जाता है।

भावपक्ष

महाकवि सूरदास का 'सूरसागर' वास्तव में रस का महासागर है। इसमें भावों की विविधता और अनेक रूपता के सहज दर्शन होते हैं। मानव हृदय की गहराइयों में डूबने वाले कवि से यही आशा और अपेक्षा भी होती है। अपने सीमित क्षेत्र में भी नवीन उद्‌भावनाओं, कोमल कल्पनाओं आदि के कारण ही सूरदास हिंदी साहित्य के सवश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। सूरदास की कविता के भावपक्ष को निम्न प्रकार से देखा जा सकता है-

वस्तु-वर्णन

वर्ण्य-विषय की दृष्टि से सूरदास के संपूर्ण काव्य को प्रमुखत: छ: भागों में बांटकर देखा जा सकता है- (1.) विनय के पद, (2.) बालक कृष्ण से संबंधित पद, (3.) कृष्ण के रूप-सौंदर्य संबंधी पद, (4.) कृष्ण और राधा के रति भाव संबंधी पद, (5.) मुरली संबंधी पद, और (6.) वियोगश्रृंगार के भ्रमरगीत के पद।

विनय के पदों में सूरदास ने विनय की संपूर्ण भूमिकाओं एवं वैष्णव भक्ति संबंधी समस्त नियमों के अनुकूल विनम्रता, निराभिमानता, निष्कपटता, इष्टदेव की महत्ता, भक्त की लघुता आदि का निरूपण बड़ी सजीवता के साथ किया है। कृष्ण के बाल-जीवन संबंधी पदों में सूरदास की अद्‌भुत कला के दर्शन होते हैं। सूरदास ने बाल-जीवन का ऐसा जीता-जागता चित्र अंकित किया है, जिसमें मनोवैज्ञानिकता, सरसता और चित्ताकर्षकता, सभी विद्यमान हैं। कृष्ण के रूप-माधुर्य संबंधी पदों में सूरदास ने अपने इष्टदेव कृष्ण के अनंत सौंदर्य की ऐसी झांकी प्रस्तुत की है, जिसे देखकर सभी का हृदय अनायास ही उस सौंदर्य पर न्यौछावर हो जाता है। कृष्ण और राधा के रति संबंधी पदों में सूरदास कृष्ण के साथ राधा को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हुए उन्हें आराध्य देवी के पद पर प्रतिष्ठित करते हैं। मुरली संबंधी पदों में सूरदास मुरली को एक साधारण मनोमुग्धकारी यंत्र से अधिक व्यापक अर्थ प्रदान करते हैं। और आखिर में वियोग संबंधी भ्रमरगीत के पदों में सूरदास की कला के सर्वोत्कृष्ट रूप का दर्शन होता है। इन पदों में सूरदास ने सरसता, वाग्वैदग्ध्य एवं माधुर्य के साथ-साथ उद्धव संदेश, गोपियों की झुंझुलाहट, प्रेमातिरेक, व्यंग्य-विनोद, हास-परिहास, उपालंभ, उदारता, सहज चपलता, विरहोंमाद, वचन-वक्रता आदि का अद्‌भुत वर्णन किया है। स्पष्ट है कि

सूरदास ने कृष्ण के बाल-जीवन से लेकर किशोरावस्था तक की संपूर्ण क्रीड़ाओं, चेष्टाओं एवं व्यापारों आदि के मनोहारी चित्रण द्वारा' सूरसागर' के रूप में एक अद्‌भुत काव्य की सृष्टि की है, जिसमें वात्सल्य और विप्रलंभ संबंधी वर्णन सर्वोपरि हैं।

प्रकृति-चित्रण

सूरदास की कविता के केंद्र में ब्रज प्रदेश की रमणीय प्रकृति अपने पूरे वैभव के साथ उपस्थित है। ब्रज प्रदेश की प्रकृति का मनोहारी रूप और आनंदोल्लासपूर्ण मधुर कलरव सूरदास के प्रत्येक पदों में गुंजायमान है। प्रकृति-नटी की रमणीय झांकी अंकित करते हुए सूरदास उसके 'षड्ऋतुओं में परिवर्तित होने वाले दिव्य सौंदर्य का मनमोहक निरूपण करते हैं। बसंत ऋतु के एक चित्र में कोकिल सदैव शोर मचाती रहती है, मन्मथ सदा चित्त चुराता रहता है, वृक्षों की डालियां विविध प्रकार के पुष्पों से भरी रहती हैं, जिन पर भ्रमर उन्मुक्त होकर विलास करते रहते हैं, और ऐसे में सर्वत्र हर्ष एवं उल्लास छाया रहता है और कोई भी उदास नहीं होता-

'सदा बसंत रहत जहं बास। सदा हर्ष जहं नहीं उदास॥
कोकिल कीर सदा तंह रोर। सदा रूप मन्मथ चित चोर॥
विविध सुमन बन फूले डार। उन्मत मधुकर भ्रमत अपार॥'

कलापक्ष

कलापक्ष काव्य का बाह्य अंग होता है, जिसके अंतर्गत प्रमुखत: काव्य-शैली, भाषा, अलंकार आदि का समावेश होता है। ये तीनों भावों के वाहक हैं, जिनके माध्यम से भावों को संप्रेषित किया जाता है। सूरदास की कविता के कलापक्ष को निम्नांकित रूप में देख सकते हैं-

काव्य-शैली

जीवन की कोमलतम अनुभूतियां गीत-शैली में उत्तम ढंग से व्यक्त हो सकती हैं। इसीलिए सूरदास ने गीत-शैली का आधार ग्रहण किया। कृष्ण का ब्रज रूप समस्त गीति-काव्य की सुंदरतम भावभूमि है। 'सूरसागर' में एक ओर जहां कथा की क्षीण धारा प्रवाहित होती है, वहीं दूसरी ओर वर्णात्मक प्रसंग भी हैं, किंतु इनमें कवि का मन ज्यादा रमा नहीं है। प्रत्येक समर्थ साहित्यकार की अपनी

विशिष्ट शैली होती है, जिसमें उसका संपूर्ण व्यक्तित्त्व प्रतिबिंबित होता है। कुछ विद्वानों ने 'सूरसागर' को प्रबंध-मुक्तक काव्य की संज्ञा से विभूषित किया है। डॉ. सत्येंद्र इसे 'कीर्तन काव्य' कहते हैं, जबकि डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा ने विविधता की दृष्टि से 'सूरसागर' के पदों का वर्गीकरण निम्नांकित रूप में किया है-

श्रीमद्भागवत के कथा प्रसंग तथा कथा-पूर्ति हेतु वर्णात्मक अंश
दृश्य और वर्णन विस्तार
वर्णात्मक कथानक
गीतात्मक कथानक
सामान्य चरित संबंधी गेय पद
विशिष्ट क्रीड़ा संबंधी गेय पद
रूप चित्रण और मुरली-वादन संबंधी गेय पद
प्रभाव-वर्णन संबंधी गेय पद
भाव-चित्रण संबंधी गेय पद
फुटकल गेय पद।

सूरदास के पदों में गीतिकाव्य के सभी प्रधान तत्त्व देखें जाते हैं। सूरदास के पदों की आत्मा संगीत है, जिसकी रचना अनुभूति की सघनता के क्षणों में हुई है। इनमें भाषाओं की वंश वर्तनी है एवं कवि के अंतर्वेग को छंद ने लय की एकरूपता में बांध दिया है। इनमें अभिप्रेत अर्थ भावों तक पहुंचाने का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये सभी विशेषताएं गीतिकाव्य के अंतर्गत आती हैं। निर्विवादित रूप से 'सूरसागर' गीति-शैली का एक अद्वितीय काव्य-ग्रंथ है।

दृष्टिकूटि-शैली

'सूरसागर' में दृष्टिकूटि-शैली भी देखने को मिलती है। सूरदास की काव्य-कला का एक नमूना वह है, जिसमें शब्द-क्रीड़ा का चमत्कार प्रस्तुत किया गया है। इसमें न तो लोकगीतों की सहजता है और न ही आंतरिक संगीतात्मकता। दृष्टिकूटि पद-रचना हिन्दी में सूरदास की अपनी निजी कलात्मक विशेषता है। उनमें शब्द-क्रीड़ा एवं चमत्कार की सर्वत्र प्रमुखता है।

भाषा-शैली

सूरदास की रचना परिमाण और गुण दोनों में महान् कवियों के बीच अतुलनीय है। आत्माभिव्यंजना के रूप में इतने विशाल काव्य का सर्जन सूर ही

कर सकते थे, क्योंकि उनके स्वात्ममुं सम्पूर्ण युग जीवन की आत्मा समाई हुई थी। उनके स्वानुभूतिमूलक गीतिपदों की शैली के कारण प्रायः यह समझ लिया गया है कि वे अपने चारों ओर के सामाजिक जीवन के प्रति पूर्ण रूप में सजग नहीं थे, परन्तु प्रचारित पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर यदि देखा जाये तो स्वीकार किया जाएगा कि सूर के काव्य में युग जीवन की प्रबुद्ध आत्मा का जैसा स्पन्दन मिलता है, वैसा किसी दूसरे कवि में नहीं मिलेगा। यह अवश्य है कि उन्होंने उपदेश अधिक नहीं दिये, सिद्धान्तों का प्रतिपादन पण्डितों की भाषा में नहीं किया, व्यावहारिक अर्थात् सांसारिक जीवन के आदर्शों का प्रचार करने वाले सुधारक का बना नहीं धारण किया, परन्तु मनुष्य की भावात्मक सत्ता का आदर्शीकृत रूप गढ़ने में उन्होंने जिस व्यवहार बुद्धि का प्रयोग किया है, उससे प्रमाणित होता है कि वे किसी मनीषी से पीछे नहीं थे। उनका प्रभाव सच्चे कान्ता सम्मित उपदेश की भाँति सीधे हृदय पर पड़ता है। वे निरे भक्त नहीं थे, सच्चे कवि थे। ऐसे द्रष्टा कवि थे, जो सौन्दर्य के ही माध्यम से सत्य का अन्वेषण कर उसे मूर्त रूप देने में समर्थ होते हैं। युगजीवन का प्रतिबिम्ब होते हुए उसमें लोकोत्तर सत्य के सौन्दर्य का आभास देने की शक्ति महाकवि में ही होती है, निरे भक्त, उपदेशक और समाज सुधारक में नहीं।

श्री वल्लभाचार्य से मुलाकात

शुद्ध और श्रेष्ठ कविता की दृष्टि से सूरदास से ज्यादा मोहक कवि हिंदी कविता में दूसरा नहीं हुआ। तुलसी भी हैं मगर वह दृष्टाकवि हैं, मंत्र लिखते हैं।

सूरदास हमें कभी न मिलते अगर सूरदास को वल्लभाचार्य न मिलते। कौन थे वल्लभाचार्य और क्या है उनका अवदान? इसे इस तरह समझें। पहले हुए शंकराचार्य, जिन्होंने घोषणा की- यह जो दिखाई देने वाली दुनिया है- झूठ है। सत्य सिर्फ ब्रह्म है। फिर आए रामानुजाचार्य, उन्होंने कहा खेल सिर्फ दो का नहीं तीन का है। चेतन है पहले फिर अचित यानी जड़ तत्त्व और इन दोनों का समन्वय है ईश्वर। चितित्त्व और जड़ या अचित दोनों स्वतंत्र लगते तो हैं मगर ये दोनों किसी के अधीन हैं और ये जिसके अधीन वह है ईश्वर है।

रामानुज के बाद आते हैं मध्वाचार्य। उन्होंने कहा- माया भी अलग है ब्रह्म भी अलग, दोनों कभी मिलते ही नहीं इसलिए न अद्वैत ठीक, न विशिष्टाद्वैत, सब तरफ सब समय द्वैत ही द्वैत है। फिर इसके बाद हुए आचार्य निंबार्क उन्होंने कहा, 'द्वैत और अद्वैत दोनों की सत्ता है' इसलिए उन्होंने अपने सिद्धांत को नाम

दिया द्वैताद्वैत। इसके बाद हमारा परिचय शुद्धाद्वैत सिद्धांत से होता है जिसके प्रवर्तक हुए वल्लभाचार्य।

उन्होंने कहा कि ब्रह्म के तीन रूप हैं- आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक। आधिभौतिक ब्रह्म क्षर पुरुष है वही प्रकृति या जगतरूप है। आध्यात्मिक ब्रह्म अक्षर ब्रह्म है। जबकि आधिदैविक ब्रह्म परब्रह्म है। क्षर पुरुष से अक्षर ब्रह्म और अक्षर से भी श्रेष्ठ है परब्रह्म। इसी ब्रह्म को गीताकार ने पुरुषोत्तम ब्रह्म कहा है।

वल्लभाचार्य ने कारण और कार्य को अलग-अलग न मानते हुए एक उदाहरण दिया है- कहा है कि एक लपेटा हुआ वस्त्र या सूत का गोला छोटे से छोटा हो सकता है मगर जैसे ही उसे खोलना या घसीटना शुरू करो तो यही गोला विस्तीर्ण होता चला जाता है। ठीक इसी तरह आविर्भाव दशा में जगत और तिरोभाव दशा में ब्रह्म है। उत्पत्ति, स्थिति और लय हो जाने वाला यह जगत सही अर्थों में प्रभु की लीला है। लीला का कोई उद्देश्य नहीं होता। कार्य की निष्पत्ति हो गई तो हो गई, नहीं हुई तो नहीं हुई। जब सभी कुछ हो भी रहा हो और होने के साथ-साथ नहीं भी होता चल रहा हो अथवा फिर-फिर होकर फिर-फिर न होता चला जा रहा हो तो उसे लीला कहते हैं। लीला का अर्थ है खेल, खिलवाड़, क्रीड़ा, विनोद, मनोरंजन आदि।

वल्लभाचार्य ने अपने सिद्धांत को पुष्टि मार्ग बताया। वल्लभ ने प्रभु को अनुग्रह ही पुष्टि या पोषण है कहने के साथ-साथ यह भी कह दिया कि जिन्हें पुरुषोत्तम कहा जाता है वे और कोई नहीं स्वयं लीलापुरुष कृष्ण है। अपने को अंशरूप में जीवों में बिखराना सिर्फ उन्हें आता है। पुरुषोत्तम कृष्ण की सभी लीलाएं नित्य है।

यह दुनिया, यह संसार उन्हीं के क्रीड़ाभाव के कारण आविर्भाव और तिरोभाव के बीच उबरता-डूबता रहता है। वल्लभ ने जीव तीन प्रकार के बताए हैं। पुष्टि जीव जो कृष्ण के अनुग्रह पर भरोसा करते हैं। दूसरे मर्यादा जीव, जो शास्त्र के अनुसार जीवन जीते हैं और तीसरे वे जीव जो संसार के प्रवाह में पड़े रहते हैं।

मत

श्रीवल्लभाचार्य जी के मतानुसार तीन स्वीकार्य तत्त्व हैं- ब्रह्म, जगत और जीव। ब्रह्म के तीन स्वरूप वर्णित हैं- आधिदैविक, आध्यात्मिक एवं अंतर्यामी

रूप। अनंत दिव्य गुणों से युक्त पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म स्वीकारते हुए उनके मधुर रूप एवं लीलाओं को ही जीव में आनंद के आविर्भाव का स्रोत माना गया है। जगत ब्रह्म की लीला का विलास है। संपूर्ण सृष्टि लीला के निमित्त ब्रह्म की आत्म-कृति है।

सिद्धान्त

भगवान श्रीकृष्ण के अनुग्रह को पुष्टि कहा गया है। भगवान के इस विशेष अनुग्रह से उत्पन्न होने वाली भक्ति को 'पुष्टिभक्ति' कहा जाता है। जीवों के तीन प्रकार हैं- पुष्टि जीव जो भगवान के अनुग्रह पर निर्भर रहते हुए नित्यलीला में प्रवेश के अधिकारी बनते हैं, मर्यादा जीव जो वेदोक्त विधियों का अनुसरण करते हुए भिन्न-भिन्न लोक प्राप्त करते हैं, और प्रवाह जीव जो जगत-प्रपंच में ही निमग्न रहते हुए सांसारिक सुखों की प्राप्ति हेतु सतत् चेष्टारत रहते हैं,।

भगवान् श्रीकृष्ण भक्तों के निमित्त व्यापी वैकुण्ठ में, जो विष्णु के वैकुण्ठ से ऊपर स्थित है, नित्य क्रीड़ाएं करते हैं। इसी व्यापी वैकुण्ठ का एक खण्ड है- गोलोक, जिसमें यमुना, वृन्दावन, निकुंज व गोपियां सभी नित्य विद्यमान हैं। भगवद् सेवा के माध्यम से वहां भगवान की नित्य लीला-सृष्टि में प्रवेश ही जीव की सर्वोत्तम गति है।

प्रेमलक्षणा भक्ति उक्त मनोरथ की पूर्ति का मार्ग है, जिस ओर जीव की प्रवृत्ति मात्र भगवद् नुग्रह द्वारा ही संभव है। श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के पुष्टिमार्ग, अनुग्रह मार्ग, का यही आधारभूत सिद्धांत है। पुष्टि-भक्ति की तीन उत्तरोत्तर अवस्थाएं हैं-प्रेम, आसक्ति और व्यसन। मर्यादा-भक्ति में भगवद् प्राप्ति शमदमादि साधनों से होती है, किंतु पुष्टि-भक्ति में भक्त को किसी साधन की आवश्यकता न होकर मात्र भगवद् कृपा का आश्रय होता है। मर्यादा-भक्ति स्वीकार्य करते हुए भी पुष्टि-भक्ति ही श्रेष्ठ मानी गई है। यह भगवान में मन की निरंतर स्थिति है। पुष्टिभक्ति का लक्षण यह है कि भगवान के स्वरूप की प्राप्ति के अतिरिक्त भक्त अन्य किसी फल की आकांक्षा ही न रखे। पुष्टिमार्गीय जीव की सृष्टि भगवत् सेवार्थ ही है- भगवद्रूप सेवार्थ तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्। प्रेमपूर्वक भगवत्सेवाभक्ति का यथार्थ स्वरूप है-भक्तिश्च प्रेमपूर्विकासेवा। भागवतीय आधार (कृष्णस्तु भगवान स्वयंद्ध पर भगवान कृष्ण ही सदा सर्वदासेव्य, स्मरणीय तथा कीर्तनीय हैं-

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः।
तस्मात्सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम।

ब्रह्म के साथ जीव-जगत का संबंध निरूपण करते हुए उनका मत था कि जीव ब्रह्म का संदेश अंश, है, जगत भी ब्रह्म का संदेश है। अंश एवं अंशी में भेद न होने के कारण जीव-जगत और ब्रह्म में परस्पर अभेद है। अंतर मात्र इतना है कि जीव में ब्रह्म का आनंदांश आवृत्त रहता है, जबकि जड़ जगत में इसके आनन्दांश व चैतन्यांश दोनों ही आवृत्त रहते हैं।

श्रीशंकराचार्य के अद्वैतवाद केवलाद्वैत के विपरीत श्रीवल्लभाचार्य के अद्वैतवाद में माया का संबंध अस्वीकार करते हुए ब्रह्म को कारण और जीव-जगत को उसके कार्य रूप में वर्णित कर तीनों शुद्ध तत्त्वों का ऐक्य प्रतिपादित किए जाने के कारण ही उक्त मत शुद्धाद्वैतवाद कहलाया (जिसके मूल प्रवर्तक आचार्य श्री विष्णुस्वामी जी हैं)।

प्रमुख ग्रन्थ

श्री वल्लभाचार्य ने अनेक भाष्यों, ग्रंथों, नामावलियों, एवं स्तोत्रों की रचना की है, जिनमें प्रमुख निम्नलिखित ये सोलह सम्मिलित हैं, जिन्हें 'षोड्श ग्रन्थ' के नाम से जाना जाता है–

1. यमुनाष्टक
2. बालबोध
3. सिद्धान्त मुक्तावली
4. पुष्टि प्रवाह मर्यादा भेद
5. सिद्धान्त रहस्य
6. नवरत्न स्तोत्र
7. अन्तःकरण प्रबोध
8. विवेकधैर्याश्रय
9. श्रीकृष्णाश्रय
10. चतुःश्लोकी
11. भक्तिवर्धिनी
12. जलभेद
13. पंचपद्यानि
14. संन्यास निर्णय

15. निरोध लक्षण
16. सेवाफल

आपका शुद्धाद्वैत का प्रतिपादक प्रधान दार्शनिक ग्रन्थ है – अणुभाष्य ब्रह्मसूत्र भाष्य अथवा उत्तर मीमांसा। इनके अतिरिक्त आप द्वारा प्रणीत कई अन्य ग्रन्थ, जैसे – 'तत्त्वार्थदीपनिबन्ध', 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम', 'पत्रावलम्बन', 'पंचश्लोकी', पूर्व मीमांसा भाष्य, भागवत के दशम स्कन्ध पर सुबोधिनी टीका आदि भी प्रसिद्ध हैं। 'मधुराष्टक' स्तोत्र में आपने भगवान श्रीकृष्ण के स्वरूप, गुण, चरित्र, लीला आदि के माधुर्य को अत्यंत मधुर शब्दों और भावों से निरुपित किया है।

षोड्श ग्रन्थों की टीकाएँ तथा हिंदी अनुवाद

महाप्रभु वल्लभाचार्य के षोड्श ग्रंथों पर श्री हरिराय जी, श्री कल्याण राय जी, श्री पुरुषोत्तम जी, श्रीरघुनाथ जी आदि अनेक विद्वानों द्वारा संस्कृत भाषा में टीकाएं उपलब्ध हैं। सर्वसाधारण के लिए भाषा की जटिलता के कारण ग्रंथों और टीकाओं के मर्म को समझना कठिन रहा है, किन्तु श्री वल्लभाचार्य के ही एक विद्वान वंशज गोस्वामी राजकुमार नृत्यगोपाल जी ने प्रत्येक ग्रन्थ की समस्त टीकाओं को न केवल एक जगह संकलित किया है, बल्कि पुष्टिमार्ग के भक्तों तथा अनुयायियों के लाभ के लिए उनका हिंदी अनुवाद भी सुलभ कराया है। क्लिष्ट टीकाओं के हिंदी अनुवाद के साथ अधिक स्पष्टता के लिए उन्होंने प्रत्येक ग्रन्थ पर अपनी स्वयं की टीका भी की है। ये सभी टीकाएँ सोलह पुस्तकों के रूप में छपी हैं। निम्न तालिका में श्री वल्लभाचार्य के ग्रंथों की संग्रहीत टीकाओं के साथ ही श्री राजकुमार नृत्यगोपाल जी की टीका का उल्लेख है।

चतुःश्लोकी – मध्या टीका, 2002
भक्तिवर्धिनी – संयुक्ता टीका, 2002
सिद्धान्त-रहस्यम् – दिशा टीका, 2002
अन्तःकरणप्रबोधः – अरुणा टीका, 2003
विवेकधैर्याश्रयः – आलोका टीका, 2003
कृष्णाश्रयस्तोत्रम् – संगिनी टीका, 2004
नवरत्नम् – गोपालकेतिनी टीका, 2005
निरोधलक्षणम् – मनोज्ञा टीका, 2007
सेवाफलम् – अनुस्यूता टीका, 2009
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः – मेखला टीका, 2010

श्री यमुनाष्टकम् – श्री टीका, 2011
जलभेदः तथा पंचपद्यानि – मनोज्ञा टीका, 2011
संन्यासनिर्णयः – ज्ञापिनी टीका, 2012
बालबोधः – बोधिका टीका, 2012
सिद्धान्तमुक्तावली – प्राची टीका, 2013

शिष्य परम्परा

श्री वल्लभाचार्य जी के चौरासी शिष्यों के अलावा अनगिनत भक्त, सेवक और अनुयायी थे। उनके पुत्र श्रीविट्ठलनाथ जी (गुसाईंजी) ने बाद में उनके चार प्रमुख शिष्यों – भक्त सूरदास, कृष्णदास, परमानन्द दास और कुम्भनदास, तथा अपने स्वयं के चार शिष्यों – नन्ददास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी तथा चतुर्भुजदास, जो सभी श्रेष्ठ कवि तथा कीर्तनकार भी थे, का एक समूह स्थापित किया जो "अष्टछाप" कवि के नाम से प्रसिद्ध है। सूरदास जी की सच्ची भक्ति एवं पद-रचना की निपुणता देख अति विनयी सूरदास जी को भागवत् कथा श्रवण कराकर भगवद्लीला गान की ओर उन्मुख किया तथा उन्हें श्रीनाथ जी के मन्दिर की कीर्तन-सेवा सौंपी। उन्हें तत्त्व ज्ञान एवं लीला भेद भी बतलाया-श्रीवल्लभगुरु तत्त्व सुनायो लीला-भेद बतायो सूरसारावली,। सूर की गुरु के प्रति निष्ठा दृष्टव्य है- भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो। श्रीवल्लभ-नख-चंद्र-छटा बिनु सब जग मांझ अंधेरों श्रीवल्लभ के प्रताप से प्रमत्त कुम्भनदास जी तो सम्राट अकबर तक का मान-मर्दन करने में नहीं झिझके- परमानन्ददास जी के भावपूर्ण पद का श्रवण कर महाप्रभु कई दिनों तक बेसुध पड़े रहे। मान्यता है कि उपास्य श्रीनाथ जी ने कलि-मल-ग्रसित जीवों के उद्धार हेतु श्रीवल्लभाचार्य जी को दुर्लभ आत्म-निवेदन मन्त्र प्रदान किया और गोकुल के ठकुरानी घाट पर यमुना महारानी ने दर्शन देकर कृतार्थ किया।

अद्वैतवाद

अद्वैत वेदान्त की प्रतिक्रिया स्वरूप ही वेदान्त के अन्य सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ ने ज्ञान के स्थान पर भक्ति को अधिक प्रश्रय देकर वेदान्त को जनसामान्य की पहुँच के योग्य बनाने का प्रयास किया। उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र के विश्लेषण पर ही शंकर के अद्वैतवाद का भवन खड़ा हुआ था। इसी कारण अन्य आचार्यों ने भी प्रस्थानत्रयी

के साथ-साथ भागवत को भी अपने मत का आधार बनाया। यद्यपि वल्लभाचार्य ने वेद, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्भागवत की व्याख्याओं के माध्यम से अपने मत का उप स्थान किया, किन्तु उनका यह भी विचार रहा है कि उपर्युक्त स्रोत ग्रन्थों में से उत्तरोत्तर का प्रामाण्य अधिक है। इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि शुद्धाद्वैत के संदर्भ में वल्लभाचार्य द्वारा भागवत पर रचित सुबोधिनी टीका का महत्त्व बहुत अधिक है। दर्शन में भक्ति का पुट श्रीमद्भागवत से अधिक शायद ही किसी अन्य ग्रन्थ में उपलब्ध होता हो, अतः वल्लभाचार्य के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह श्रीमद्भागवत को अधिक महत्त्व देते।

वल्लभाचार्य के प्रमुख ग्रंथ

ब्रह्मसूत्र का 'अणु भाष्य' और वृहद् भाष्य,
भागवत की 'सुबोधिनी' टीका,
भागवत तत्त्वदीप निबंध,
पूर्व मीमांसा भाष्य,
गायत्री भाष्य,
पत्रवलंबन,
पुरुषोत्तम सहस्त्रनाम,
दशमस्कंध अनुक्रमणिका,
त्रिविध नामावली।

शिक्षा श्लोक

विविध अष्टक (1.मधुराष्टक, 2.परिवृढ़ाष्टक, 3. नंदकुमार अष्टक, 4.श्री कृष्णाष्टक, 5. गोपीजनबल्लभाष्टक आदि।)

अणुभाष्य

ब्रह्मसूत्र पर वल्लभाचार्य ने अणुभाष्य लिखा। अणु शब्द का प्रयोग आचार्य ने क्यों किया। ऐसी मान्यता है कि वल्लभाचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर दो भाष्य लिखे थे, एक बृहद्भाष्य (या भाष्य) और दूसरा अणु (छोटा) भाष्य। ऐसा प्रतीत होता है कि बृहद्भाष्य अब उपलब्ध नहीं होता, किन्तु अणुभाष्य उसी का लघु संस्करण है। इसकी पुष्टि इस तथ्य से होती है कि श्रीमद्भागवत पर भी वल्लभाचार्य ने एक बृहद् टीका (सुबोधिनी) लिखी और एक लघु टीका (सूक्ष्म

टीका, जो कि अब उपलब्ध नहीं होती)। एक ही ग्रन्थ की टीकाओं के एकाधिक संस्करण अन्य आचार्यों ने भी लिखे हैं। उदाहरणतया मध्वाचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर ही चार टीकाएं लिखी थीं-

1. भाष्य,
2. अणुभाष्य (अथवा अनुव्याख्यान),
3. अणुव्याख्यान विवरण,
4. अणुव्याख्यान।

ये चारों ही संस्करण उपलब्ध हैं, अतः मध्वाचार्य का अनुकरण करके वल्लभाचार्य ने भी ब्रह्मसूत्र के भाष्य के दो संस्करण (एक बढ़ा और एक सूक्ष्म) लिखे हों तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। वल्लभाचार्य ने दार्शनिक समस्याओं के समाधान में अनुमान को अनुपयुक्त मानकर शब्द प्रमाण को वरीयता दी है। उनके मतानुसार ब्रह्म माया से अलिपत होने के कारण नितान्त शुद्ध है। वह सत्, चित्, आनन्द रस से युक्त है। ब्रह्म अपनी संधिनी शक्ति के सत् का, संचित् शक्ति द्वारा चित् का, और "लादिनी शक्ति द्वारा आनन्द का आविर्भाव करता है। वह पूर्ण पुरुषोत्तम शाश्वत तथा सर्वव्यापक होने के साथ-साथ कर्ता और भोक्ता दोनों है। जगत को वह अपने में से आविर्भूत करता है। और इस प्रकार वह जगत का निमित्तकरण तथा उपादान कारण भी है। वह अविकृत परिणामवाद के अनुसार अपने को जगत के रूप में आविर्भूत करता है, अतः उसके मूल स्वरूप में कोई परिवर्तन या विकार नहीं आता है।

ब्रह्म के तीन रूप

सृष्टि क्रम के संदर्भ में वल्लभाचार्य ने ब्रह्म के तीन रूप बताए हैं-

आधिभौतिक-परब्रह्म

आध्यात्मिक-अक्षर ब्रह्म

आधिभौतिक-जगत ब्रह्म।

ब्रह्म रमण करने की इच्छा से जीव और जड़ का आविर्भाव करता है। इस व्यापार में उसकी क्रीड़ा करने की इच्छा का ही प्राधान्य है, न कि माया का। जिस प्रकार एक ही सर्प कुण्डल आदि बनाकर अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है, किन्तु सर्प और उसके कुण्डलादि रूप अभिन्न हैं, उसी प्रकार ब्रह्म अनेक रूपों में स्फुरित होते हुए भी शुद्ध अद्वैत रूप ही है।

ब्रह्म का दूसरा रूप अक्षर ब्रह्म है। वह भी सत्, चित् तथा आनन्दमय है, किन्तु परब्रह्म में आनन्द असीमित मात्रा में है, जबकि अक्षर ब्रह्म में वह सीमित होता है। यह अक्षर ब्रह्म ही अवतार के रूप में आविर्भूत होता है। अक्षर ब्रह्म एक प्रकार से आधिवैदिक परब्रह्म का आध्यात्मिक (कायिक) रूप है। कहीं-कहीं अक्षर ब्रह्म को परब्रह्म का पुच्छ भी कहा गया है। अक्षर ब्रह्म के अतिरिक्त काल, कर्म और स्वभाव भी परब्रह्म के ही रूपान्तर हैं। सृष्टि के आरम्भ में, अक्षर ब्रह्म प्रकृति और पुरुष के रूप में आविर्भूत होता है। प्रकृति ही विभिन्न सोपानों में परिणत होती हुई जगत का सृजन करती है। इसलिए प्रकृति को कारणों का कारण कहा जाता है। काल, कर्म और स्वभाव इस सृष्टि प्रक्रिया में अपनी अपनी भूमिका का निर्वाह करते हैं। यद्यपि अक्षर, काल, कर्म और स्वभाव सृष्टि से पूर्व विद्यमान रहते हैं, किन्तु इनकी गिनती उन 28 तत्त्वों में नहीं की जाती, जिनका उल्लेख तत्त्वार्थदीप में इस प्रकार किया गया है- सत्व, रजस्, पुरुष, प्रकृति, महत, अहंकार, पंचतन्मात्र, पंचमहाभूत, पंचकर्मेन्द्रियां, पंचज्ञानेन्द्रियां तथा मनस्। यह ज्ञातव्य है कि नाम साम्य होने पर भी तत्त्वार्थदीप में गिनाए गए तत्त्व सांख्य के तत्त्वों से भिन्न हैं।

जीव ब्रह्म

वल्लभाचार्य के अनुसार जीव ब्रह्म ही है। यह भगवत् स्वरूप ही है, किन्तु उनका आनन्दांश-आवृत् रहता है। जीव ब्रह्म से अभिन्न है, जब परब्रह्म की यह इच्छा हुई कि वह एक से अनेक हो जाये तो अक्षर ब्रह्म हजारों की संख्या में लाखों जीव उसी तरह से उद्भूत हुए, जैसे कि आग में से हजारों स्फुलिंग निकलते हैं। कुछ विशेष जीव अक्षर ब्रह्म की अपेक्षा सीधे ही परब्रह्म से आविर्भूत होते हैं। जीव का व्युच्चरण होता है उत्पत्ति नहीं। जीव इस प्रकार ब्रह्म का अंश है और नित्य है। लीला के लिए जीव में से आनन्द का अंश निकल जाता है, जिससे की जीव बंधन और अज्ञान में पड़ जाता है। जीव का जन्म और विनाश नहीं होता, शरीर की उत्पत्ति और नाश होता है। शंकर जीवात्मा को ज्ञान स्वरूप मानते हैं। वल्लभाचार्य के अनुसार वह ज्ञाता है। जीव अणु है, किन्तु वह सर्वव्यापक और सर्वज्ञ नहीं है, चैतन्य के कारण वह भोग करता है। लीला के उद्देश्य से जगत में वैविध्य लाने के लिए जीवों की तीन कोटियां बताई गई हैं-

शुद्ध, जिस जीव में आनन्दांश का तिरोभाव रहता है, पर अविद्या से जिसका सम्बन्ध नहीं रहता, वह शुद्ध कहलाता है।

संचारी, जब जीव का अविद्या से सम्बन्ध हो जाता है और वह जन्मादि क्रियाओं के बन्धन का विषय हो जाता है तो वह संचारी कहलाता है, संचारी जीव भी देव और आसुरभेद दो प्रकार के होते हैं।

मुक्त, जो जीव ईश्वर के अनुग्रह से सच्चिदानंद रूप का प्राप्त करते हैं और ईश्वरमय हो जाते हैं, वे मुक्त कहलाते हैं।

पति रूप या स्वामी रूप में श्रीकृष्ण की सेवा करना जीव का धर्म है। जीवों का जीवत्व, ईश्वर की आविर्भाव एवं तिरोभाव क्रियाओं का परिणाम है। इन क्रियाओं के द्वारा ही ईश्वर की कुछ शक्तियां एवं गुण जीव में तिरोभूत और कुछ आविर्भूत हो जाते हैं। वल्लभाचार्य के मतानुसार जगत नित्य है। वह ब्रह्म का आधिभौतिक रूप है। उसमें सत् तो विद्यमान है, किन्तु चित् और आनंद प्रच्छन्न या अदृश्य रहते हैं। जगत ब्रह्म की आविर्भाव दशा है, अतः कारण रूप ब्रह्म और कार्य रूप जगत में कोई भेद नहीं है। वल्लभाचार्य के अनुसार जगत ब्रह्मरूप ही है। कार्यरूप जगत कारण रूप ब्रह्म से आविर्भूत हुआ है। सृष्टि ब्रह्म की आत्म-कृति है। ब्रह्म से जगत आविर्भूत हुआ, फिर भी ब्रह्म में कोई विकृति नहीं आती। यही अविकृत परिणामवाद है। जगत की न तो उत्पत्ति होती है और न ही विनाश। उसका आविर्भाव-तिरोभाव होता है।

आविर्भाव का आशय

आविर्भाव का आशय है- अनुभव का विषय बनाना और तिरोभाव का अर्थ है- अनुभव का विषय न बनना।

उपादानस्य कार्य या व्यवहारणोचरं करोति, साशक्तिराविर्भाविका, तिरोभावश्च तदयोग्यत्वम्।

जगत और संसार

वल्लभाचार्य के मतानुसार जगत और संसार में अंतर है। जगत उसे कहते हैं, जो ईश्वर की इच्छा व विलास से आविर्भूत हो। इसके विपरीत, जीव अविद्या के प्रभाव से कल्पना तथा ममता द्वारा अर्थात् अविद्या के स्वरूप ज्ञान, देहध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास तथा अंतःकरणाध्यास- इन 'पर्वी' द्वारा जीवों की बुद्धि में, जो द्वैतमूलक भ्रम उत्पन्न होता है, उससे जिस पदार्थ वर्ग की सृष्टि करता है वह संसार कहलाता है। ज्ञान होने पर संसार का नाश हो जाता है, किन्तु जगत ब्रह्मरूप होने के कारण नष्ट नहीं होता। शुद्धाद्वैतवाद के अनुसार जगत ब्रह्म और

जीव के समान नित्य है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो विश्व दो प्रकार का होता है, एक पृथ्वी, सूर्य, चंद्र आदि से बना हुआ जड़ जगत, जिसमें चेतन जीव रहते हैं और दूसरा जीवों के ममत्व से उत्पन्न हुआ संसार। ब्रह्म जगत का निमित्त कारण शरीर और उपादान कारण दोनों है। ब्रह्म को समवायिकारण भी कहा गया है, क्योंकि वह सत्, चित् और आनंद रूप में सर्वव्यापक है।

मोक्ष और माया

अद्वैतवाद में माया को उपादान कारण माना गया है। वल्लभाचार्य ने माया के दो भेद बताये हैं- अविद्या माया और विद्या माया। अविद्या माया जीव में भ्रान्ति उत्पन्न करती है, जिससे कि वह अपने चित् रूप को भूल जाता है। विद्या माया अज्ञान नाशिनी होती है। मोक्ष प्राप्ति के संदर्भ में प्रायः तीन मार्गों का उल्लेख किया जाता है- कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग। वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों में इनके सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद रहा है। शुद्ध द्वैतवाद के अनुसार अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, पशुयाग, चातुर्मास्य और सोमयाग करने से मोक्ष प्राप्त होता है, किन्तु ऐसा मोक्ष देवयान मार्ग का अनुसरण करके ही प्राप्त होता है, जो व्यक्ति ज्ञान मार्ग का अनुसरण करता है, यानी यह ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि जगत में, जो कुछ है, वह सब ब्रह्म ही है, वह अक्षर ब्रह्म में विलीन होता है, न कि परब्रह्म में, क्योंकि ज्ञानमार्गी की सीमा अक्षर ब्रह्म तक ही है। ज्ञानमार्गी अक्षर ब्रह्म को ही अंतिम सत्ता समझता है। हाँ, यदि ब्रह्म ज्ञान में भक्ति का सामंजस्य हो जाये तो व्यक्ति परब्रह्म में लीन हो सकता है। इससे भी उत्तम स्थिति वह है, जिसमें परब्रह्म अपनी ही इच्छा से किसी जीव का अपने अंदर से आविर्भाव करके उसके साथ स्वयं नित्यलीला करता है। यही भजनानंद या स्वरूपानंद की स्थिति है। शंकर के मतानुसार जीव ब्रह्मक्य रूप मुक्ति का प्रतिपादन किया था, किन्तु वल्लभाचार्य के मतानुसार भगवद् महात्म्य ज्ञानपूर्विका भक्ति ही मुक्ति का कारण है। यद्यपि भक्ति मुक्ति का साधन, परन्तु उसका महत्त्व मुक्ति से भी अधिक है। वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद को स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह भी आवश्यक है कि वेदान्त के अन्य सम्प्रदायों और विशेष रूप से शंकर के सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में उसकी सरसरी समीक्षा कर ली जाये।

शुद्धाद्वैतवाद का तुलनात्मक विश्लेषण

वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धांत शुद्धाद्वैत नाम से प्रचलित हुआ। शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रवर्तन करते हुए यह कहा था कि ब्रह्म और जीव

में पारमार्थिक अभेद है। मध्वाचार्य ने शंकर के अद्वैतवाद के एकदम विपरीत द्वैतवाद की स्थापना की और यह प्रतिपादित किया कि ब्रह्म, जीव एवं जड़ जगत में पारमार्थिक अमेद है। इन परस्पर विरोधी मतों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करते हुए रामानुजचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद का प्रवर्तन किया, जिसके अनुसार ब्रह्म, जीव एवं जगत की पृथक् सत्ता तो है और तीनों नित्य भी हैं, किन्तु जीव और जगत ब्रह्म के विशेषण हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि शंकर के अनुसार जीव एकदम भिन्न सत्तायें हैं, जबकि रामानुज के अनुसार जीव की पृथक् सत्ता तो है, किन्तु वह ब्रह्म का एक प्रकार (विशेषण) है। उनमें अंशाशिभाव है। निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत में आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध है। ईश्वर आश्रय है और जीव तथा जगत की सत्ता आश्रय रूप ईश्वर के बिना संभव नहीं है, अतः ईश्वर, जीव और जगत में भेद भी है और अभेद भी। वल्लभाचार्य के अनुसार जगत में ब्रह्म की आविर्भाव दशा है। जीव अणु है और ईश्वर का अंश है (अग्नि और स्पफुलिंग के समान) जीव सर्वव्यापक है, किन्तु सर्वज्ञ नहीं है, फिर भी जीव और ब्रह्म में अभिन्नत्व है। जीव के समान जगत भी ईश्वर का ही रूप है, अतः वह भी ईश्वर से अभिन्न है। वल्लभ ने माया के सम्बन्ध में अलिप्त होने के कारण ब्रह्म को शुद्ध कहा है, अतः उनका सिद्धांत शुद्धाद्वैतवाद के रूप में प्रचलित हुआ है। शुद्धाद्वैत पर का विग्रह दो प्रकार से किया जा सकता है- (क) शुद्धं चेदम् अद्वैतं च (कर्मधारय) (ख) शुद्धयोः अद्वैतम् (षष्ठी तत्पुरुष)।

वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित शुद्धाद्वैत वेदान्त में ब्रह्म, जीव, जगत, आदि का स्वरूप निम्नलिखित रूप से बतलाया गया है-

माया सम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधेः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं न मायिकम॥
शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः कर्मधारयः।
श्रद्वैतं शुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधाः।

शंकराचार्य और वल्लभाचार्य

शंकराचार्य और वल्लभाचार्य दोनों ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है। शंकर ने सजातीय-विजातीय भेद रहित अद्वैत एकरस ब्रह्म को ही परमतत्त्व कहा है। और वल्लभाचार्य का भी यह कथन है कि ब्रह्म माया सम्बन्ध से रहित होने के कारण शुद्ध है। शंकर ने जल में प्रतिबिम्बित सूर्य के दृष्टांत से जीव को ब्रह्म

का प्रतिबिम्ब माना है। उसी प्रकार वल्लभ ने जल में प्रतिबिम्बित चंद्र के दृष्टांत से यह प्रतिपादित किया है कि देहादि का जन्म, बंध, दु:खादि रूप धर्म जीव का ही है, ईश्वर का नहीं। शंकर केवल द्वैतवादी हैं, जबकि वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैतवादी। शंकर के अनुसार ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है। जगत की व्यावहारिक सत्ता होने पर भी उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। मायिक होने के कारण वह मिथ्या है। शंकर वेदान्त में मायाशक्ति अविद्यात्मिका एवं मिथ्या है, जबकि शुद्धाद्वैत वेदान्त में माया को ही पारमार्थिक सत्य माना गया है। शंकर के अनुसार माया का मिथ्यात्व उसकी अनिर्वचनीयता पर आधारित है। शंकर ने मायिक जगत को मिथ्या माना है, जबकि वल्लभाचार्य के अनुसार कार्यरूप जगत ब्रह्म की ही आविर्भाव दशा होने के कारण सत्य है। शंकर ने ब्रह्म को जगत का निमित्त कारण और माया को उपादान कारण माना है। दूसरे शब्दों में, शंकर के मतानुसार मायाशक्ति के कारण ब्रह्म जगत का निमित्त कारण और उपादान कारण भी है, जबकि वल्लभ ब्रह्म को जगत का समवायिकारण मानते हैं, क्योंकि जीव और जगत को उन्होंने ब्रह्म का कार्यरूप माना है। शंकर ब्रह्म को अधिष्ठान और जगत को अध्यारोप का फल जताते हैं। वे जगत को ब्रह्म का विवर्त कहते हैं, जबकि वल्लभ इस संदर्भ में अविकृत परिणामवाद को स्वीकार करते हैं।

वल्लभ के अनुसार जीव और ब्रह्म में अंशांशिभाव है, जबकि शंकर के अनुसार जीव स्वरूपत: ब्रह्म ही है। शंकर यह मानते हैं कि जीव की सत्ता अविद्योपाधिक होने के कारण मिथ्या है, परन्तु वल्लभ जीव को भी मिथ्या नहीं, अपितु सत्य मानते हैं। शंकर का मत है कि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती, यानी जब तक जीव को स्वरूप ज्ञान (अहं ब्रह्मास्मि, यह ज्ञान) नहीं होता, तब तक मोक्ष नहीं मिल सकता, जबकि वल्लभ का यह विचार है कि भक्ति से ही मुक्ति मिल सकती है, ज्ञान से नहीं। वल्लभाचार्य का सिद्धांतपक्ष शुद्धाद्वैत और आचार पक्ष पुष्टिमार्ग के नाम से विख्यात है। यह पुष्टिमार्ग सेवामार्ग भी कहलाता है। सेवामार्ग के दो भाग हैं- नामसेवा और रूपसेवा। रूपसेवा के भी तीन प्रकार हैं- तनुजा, वित्तजा और मानसी। मानसी सेवा के दो मार्ग हैं- मर्यादा मार्ग और पुष्टिमार्ग।

वल्लभ के अनुसार संसारी जीव ममत्व और माया के वशीभूत होकर ब्रह्म से विच्छिन्न होता है। पतिरूप या स्वामी रूप से ब्रह्म (श्रीकृष्ण) की सेवा करना उसका धर्म है। ब्रह्म रमण करने की इच्छा से जीव और जड़ का आविर्भाव करता है। ब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों है, अत: श्रीकृष्ण कहलाता है। अग्नि के स्फुलिंगों

की भांति जीव अनेक हैं। व्यामोहिका माया से बद्ध संसारी जीव जब भक्ति से अपने मूल स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं, तब मुक्त कहलाते हैं। वल्लभ कहते हैं कि अविद्या का सम्बन्ध होने से संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं- दैव और आसुर। दैव जीव के भी दो भेद हैं-मर्यादा मार्गीय और पुष्टि मार्गीय।

भागवत् के कथन 'पोषणं तदनुग्रहः' के अनुसार इस मार्ग का साधक भगवान के अनुग्रह से पोषित होता है। अनुग्रह के सम्बन्ध में मुंडोकपनिषद् में भी उल्लेख मिलता है। आचार्य वल्लभ ने अणुभाष्य में स्वयं भी यह लिखा है कि-

'मर्यादा मार्ग में ज्ञान आदि से मुक्ति मिलती है, पर पुष्टिमार्ग में ईश्वर की कृपा या अनुग्रह से ही। यानी मनुष्य का निजी उद्योग नहीं बल्कि भगवदानुग्रह ही मुक्ति का साधन है।' अन्य सभी भक्ति सम्प्रदाय मर्यादा-मार्गी हैं। मुक्ति के सम्बन्ध में वल्लभाचार्य लिखते हैं कि-

'मुक्तिस्तु भक्त्या इति भावः। तथा तत्र निरुपधिप्रीतिरेव मुख्या नानयत्।,

पुष्टिमार्ग

पुष्टिमार्ग के अनुसार पुष्टि चार प्रकार की होती है-

(1) प्रवाह पुष्टि-इसमें सांसारिक कार्यों के साथ ही साधक भगवान की प्राप्ति में प्रयत्नशील रहता है।

(2) मर्यादापुष्टि- इसमें विषय भागों से संयम करके श्रवण कीर्तनादि में अग्रसर होता है।

(3) पुष्टि भक्ति- इसमें अनुग्रह प्राप्त साधक भक्ति के साथ ज्ञान की प्राप्ति में भी संलग्न रहता है।

(4) शुद्ध पुष्टि- इसमें भक्त भगवान के प्रेम में निमग्न हो जाता है।

वल्लभ के अनुसार भक्ति की तीन भूमियां होती हैं-

1. प्रवृत्ति (प्रेम),
2. आसक्ति,
3. व्यसन।

वल्लभ ने भक्ति पथ के तीन सैपान माने हैं- (क) **गुरु सेवा**- यथा श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है-'यस्य देवे पराभक्तिः यथा देवे तथा गुरी'। गरुड़ पुराण में भी यह उल्लेख है कि 'स्मुक्तिहा गुरुवागेका विद्याः सर्वाविडम्बिका। तस्माद् ज्ञानेनात्मतत्त्वं विशेषं श्री गुरोर्मुखात'।

(ख) सन्त सेवा- जैसे कि गरुड़ पुराण में भी लिखा है- 'सत्संगश्च विवेकश्च निर्मलं नयनद्वयम। यस्य नास्ति नरः सोऽन्धः कथं न स्याद् कुमार्गगः'।

(ग) प्रभु सेवा- इसमें नामस्मरण और स्वरूप सेवा दोनों की प्रधानता है। स्वरूप सेवा क्रियात्मक और भावात्मक दोनों प्रकार की है। भावात्मक सेवा माननीय है तथा क्रियात्मक सेवा के दो विभाग है, तनुजा और और वित्तजा। इस सेवा साधाना का प्रमुख आधार है प्रेम, जो भगवान के अनुग्रह से ही उत्पन्न होता है। इसी कारण इसको प्रेम लक्षण साधना अथवा पुष्टिमार्गीय भक्ति कहते हैं। गुरु सेवा और संत सेवा का पर्यवसान भी प्रभु में ही है।

पुष्टिमार्ग सेवा

पुष्टिमार्गीय सेवा में क्रियात्मक सेवा के पश्चात् भावनात्मक सेवा की सम्भावना मानी गई है। वल्लभाचार्य ने अनुभव किया कि यदि तनुजा और वित्तजा नामक बाह्य शक्तियां प्रभु की सेवा में लगा दी जाएं तो इसमें ममता और अंहकार का नाश होगा और फिर भावात्मक सेवा भक्त को प्रभु की ओर प्रवृत्ति कर देगी। इसी को समर्पण कहते हैं। सूरदास के शब्दों में समर्पण की भावना इस प्रकार व्यक्त होती है कि-

'सब तजि तुव शरणागत आयो निजकर चरण गहेरे।'

श्रीकृष्ण की लीला के ध्यान में अपने जीवन श्रम को भुला देना और इन्हीं के भजन में मन को अनुरक्त रखना पुष्टिमार्गीय सेवा की विशिष्टता है। यह सेवा दो प्रकार की होती है-

नित्य सेवा
वर्षोत्सव सेवा।
नित्य सेवा के आठ अंग
मंगला- इसके तीन अंग हैं- (क) जगाना, (ख) कलेऊ, (ग) आरती।
श्रृंगार
ग्वाल
राजभोज
उत्थापत
भोग
संख्या
आरती और गायन।

वर्षोत्सव सेवा

वर्षोत्सव सेवाविधि के अवसर निम्नलिखित माने जाते हैं- 1.फूलडोल, 2. होली, 3.व्रतचर्चा, 4.रासलीला, 5.गोवर्धन-पूजा, अन्नकूट। पुष्टिमार्गीय भक्ति प्रेमलक्षण है। वल्लभ ने प्रेम का आदर्श गोपिकाओं को माना है।

सम्राट अकबर की सर्वश्रेष्ठ कवि सूरदास से मुलाकत-

महाकवि सूरदास जी के भक्तिमय गीत हर किसी को भगवान की तरफ मोहित करते हैं। वहीं सूरदास जी की पद-रचना और गान-विद्या की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। वहीं इसको सुनकर सम्राट अकबर भी कवि सूरदास से मिलने के लिए खुद को नहीं रोक सके।

साहित्य में इस बात का जिक्र किया गया है कि अकबर के नौ रत्नों में से एक संगीतकार तानसेन ने सम्राट अकबर और महाकवि सूरदास जी की मथुरा में मुलाकात करवाई थी।

सूरदास जी के पदों में भगवान श्री कृष्ण के सुंदर रूप और उनकी लीलाओं का वर्णन होता था। जो भी उनके पद सुनता था, वो ही श्री कृष्ण के भक्ति रस में डूब जाता था। इस तरह अकबर भी सूरदास जी का भक्तिपूर्ण पद-गान सुनकर अत्याधिक खुश हुए।

वहीं यह भी कहा जाता है कि सम्राट अकबर ने महाकवि सूरदास जी से उनका यशगान करने की इच्छा जताई, लेकिन सूरदास जी को अपने प्रभु श्री कृष्ण के अलावा किसी और का वर्णन करना बिल्कुल भी पसंद नहीं था।

सूरसागर

सूरसागर, ब्रजभाषा में महाकवि सूरदास द्वारा रचे गए कीर्तनों-पदों का एक सुंदर संकलन है, जो शब्दार्थ की दृष्टि से उपयुक्त और आदरणीय है। इसमें प्रथम नौ अध्याय संक्षिप्त है, पर दशम स्कन्ध का बहुत विस्तार हो गया है। इसमें भक्ति की प्रधानता है। इसके दो प्रसंग 'कृष्ण की बाल-लीला' और 'भ्रमर-गीतसार' अत्याधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

सूरसागर में लगभग एक लाख पद होने की बात कही जाती है। किन्तु वर्तमान संस्करणों में लगभग पाँच हजार पद ही मिलते हैं। विभिन्न स्थानों पर इसकी सौ से भी अधिक प्रतिलिपियाँ प्राप्त हुई हैं इनमें प्राचीनतम प्रतिलिपि

नाथद्वारा मेवाड़ के सरस्वती भण्डार में सुरक्षित पायी गई हैं। दार्शनिक विचारों की दृष्टि से 'भागवत' और 'सूरसागर' में पर्याप्त अन्तर है।

सूरसागर की सराहना करते हुए डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है-

काव्य गुणों की इस विशाल वनस्थली में एक अपना सहज सौन्दर्य है। वह उस रमणीय उद्यान के समान नहीं जिसका सौन्दर्य पद-पद पर माली के कृतित्त्व की याद दिलाता है, बल्कि उस अकृत्रिम वन-भूमि की भाँति है जिसका रचयिता रचना में घुल-मिल गया है।

परिचय

पूरा हस्तलिखित रूप में 'सूरसागर' के दो रूप मिलते हैं - 'संग्रहात्मक' और संस्कृत भागवत् अनुसार 'द्वादश स्कंधात्मक। संग्रहात्मक 'सूरसागर' के भी दो रूप देखने में आते हैं। पहला, आपके-गौघाट (आगरा) पर श्रीवल्लभाचार्य के शिष्य होने पर प्रथम प्रथम रचे गए भगवल्लीलात्मक पद- 'ब्रज भयौ मैहैर कें पूत, जब यै बात सुनी' से प्रारंभ होता है, दूसरा-'मथुरा-जन्म-लीला' से.। .।

कहा जाता है, हिंदी साहित्येतिहास ग्रंथों से ओझल 'सूरसागर' के उत्पत्ति विकास का एक अलग इतिहास है, जो अब तक प्रकाश में नहीं आया है और श्री सूर के समकालीन भक्त इतिहास रचयिताओं- 'श्री गोकुलनाथ जी, श्रीहरिराय जी (सं.-1647 वि.) और श्री नाभादास जी (सं.-1642 वि.) प्रभृति में जिसका विशेष रूप से उल्लेख किया है, अतः इन पूर्वापर के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों से जाना जाता है कि श्री सूर ने सहस्रावधि पद किए, लक्षावधि पद रचे, कोई ग्रंथ नहीं रचा। बाद में अनंत-सूर-पदावली सागर कहलाई। वस्तुतः श्रीसूर, जैसा इन ऊपर लिए संदर्भ ग्रंथों से जाना जाता है, भगवल्लीला के भाव भरे उन्मुक्त गायक थे, सो नित्य नई-नई पद रचना कर, अपने प्रभु 'गोवर्धननाथ जी' के सम्मुख गाया करते थे। रचना करने वाले थे, सो नित्य सवेरे से संध्या तक गाए जाने वाले रागों में ललित रसों का रंग भरकर अपनी वाणी की तूलिका से चित्रित कर अपने को धन्य किया करते थे। अस्तु, न उनमें अपनी उन्मुक्त कृतियों को संग्रह करने का भाव था और न कई क्रम देने की उमंग। उनका कार्य तो अपने प्रभु की नाना गुनन गरूली गुणावली गाना, उसके अमृतोपम रस में निमग्न हो झूमना तथा-'एतेचांश कलापुंसरू कृष्णस्तु भगवान स्वयं' (भाग-1/3/28) की नंदालय में बाल से पौगंड अवस्था तक लीलाओं में तदात्मभाव से विभोर होना था, यहाँ अपनी समस्त मुक्तक रचनाओं को एकत्र कर क्रमबद्ध करने का समय और स्थान कहाँ था।

कहा जाता है, श्री सूरदास 'एकदम अंधे थे,' तब अपनी जब तब की समस्त रचनाओं को कैसे एकत्र करते? फिर भी सूरदास द्वारा नित्य रचे और गाये जाने वाले पदों का लेखन और संकलन अवश्य होता रहा होगा। अन्यथा वे मौलिक रूप से रचित और गाए गए पद लुप्त हो गए होते। संभवत: सूर के समकालीन शिष्य या मित्र-यदि सूर सचमुच अंधे थे तो-उन पदों को लिखते और संकलित करते रहे होंगे। अब तक उसके संग्रहात्मक या द्वादश स्कंधात्मक बनने का कोई इतिहास पूर्णत: ज्ञात नहीं है। 'गीत-संगीत-सागर' श्री विट्ठलनाथ जी गोस्वामी, (सं. 1572 वि.) के समय श्रीमद्वल्लभाचार्य सेवित कई निधियाँ (मूर्तियाँ), आपके वंशजों द्वारा, ब्रज से बाहर चली गई थीं, यत: संप्रदाय के अनुसार 'कीर्तनों के बिना सेवा नहीं और सेवा बिना कीर्तन नहीं', अत: जहाँ-जहाँ ये निधियाँ गईं, वहीं-वहीं 'कंठ' या 'ग्रंथ' रूप में अष्टछाप के कवियों की कृतियाँ भी गईं और वहाँ इनके संकलित रूप में-'नित्य कीर्तन' और 'वर्षोत्सव' नाम पड़े, ऐसा भी कहा जाता है।

सूर के सागर का 'संग्रहात्मक' रूप श्रीसूर के सम्मुख ही संकलित हो चुका था। उसकी सं. 1630 वि. की लिखी प्रति ब्रज में मिलती है। बाद के अनेक लिखित संग्ररूप भी उसके मिलते हैं। मुद्रित रूप इसका कहीं पुराना है। पहले यह मथुरा (सं. 1840 ई.) से, बाद में आगरा (सं.-1867 ई. तीसरी बार), जयपुर (राजस्थान सं. 1865 ई.), दिल्ली (सं. 1860 ई.) और कलकत्ता से सं. 1898 ई. में लीथो प्रेसों से छपकर प्रकाशित हो चुका था। कृष्णानंद व्यासदेव संकलित 'रागकल्पद्रुम' भी इस समय का संग्रहात्मक सूरसागर का एक विकृत रूप है, जो संगीत के रंगों में बँटा हुआ है। ब्रजभाषा के रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि 'द्विजदेव'-अर्थात् महाराज मानसिंह, अयोध्या नरेश (सं. 1907 वि.) ने इसे सं. 1920 वि. में संपादित कर लखनऊ के नवल किशोर प्रेस से प्रकाशित किया था। ये सभी संग्रहात्मक रूप सूरसागर, भगवान श्रीकृष्ण की जन्मलीला गायन रूप गोकुल नंदालय में मनाए गए 'नंद महोत्सव' से प्रारंभ होकर उनकी समस्त ब्रजलीला मथुरा आगमन, उद्धव-गोपी-संवाद, श्री राम, नरसिंह तथा वामन जयंतियाँ एवं पहले-श्री वल्लभाचार्य जी की शिष्यता से पूर्व रचे गए 'दीनता आश्रय' के पदों के बाद समाप्त हुए हैं। सूर पदों के इस प्रकार संकलन की प्रवृत्ति उनके सागर के संग्रहात्मक रूप पर ही समाप्त नहीं, वह विविध रूपों में आगे बढ़ी, जिससे उनकी पद कृति के नाना संकलित रूप हस्तलिखित तथा मुद्रित देखने में आते हैं, जो इस प्रकार हैं-दीनता आश्रय के पद, दृष्टिकुल पद, जिसे

आज 'साहित्य लहरी' कहा जाता है। रामायण, बाललीला के पद, विनय पत्रिका, वैराग्यसतक, सूरछत्तीसी, सूरबहोत्तरी, सूर भ्रमरगीत, सूरसाठी, सूरदास नयन, मुरली माधुरी आदि-आदि, किंतु ये सभी संग्रह आपके संग्रहात्मक 'सागर कल्पतरु' के ही मधुर फल हैं।

श्री सूर के सागर का रूप श्री व्यास प्रणीत और शुक-मुख-निसृत 'द्वादश स्कंधात्मक' भी बना। वह कब बना, कुछ कहा नहीं जा सकता। हिंदी के साहित्येतिहास ग्रंथ इस विषय में चुप हैं। इस द्वादश स्कंधात्मक 'सूर सागर' की सबसे प्राचीन प्रति सं. 1757 वि. की मिलती है।

इसके बाद की कई हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं। उनके आधार पर कहा जा सकता है कि सूर समुदित सागर का यह 'श्रीमद्भागवत अनुसार द्वादश स्कंधात्मक रूप' अठारहवीं शती के पहले नहीं बन पाया था। उसका पूर्वकथित 'संग्रहात्मक' रूप इस समय तक काफी प्रसार पा चुका था। साथ ही इस (संग्रहात्मक) रूप की सुंदरता, सरसता और भाषा की शुद्धता एवं मनोहरता में भी कोई विशेष अंतर नहीं हो पाया था। वह सूर के समय जैसी विविध रागमयी थी वैसी ही सुंदर बनी रही, किंतु इसके इस द्वादश स्कंधात्मक रूपों में वह बात समुचित रूप से नहीं रह सकी। ज्यों-ज्यों हस्तलिखित रूपों में वह आगे बढ़ती गई त्यों-त्यों सूर की मंजुल भाषा से दूर हटती गई। फिर भी जिस किसी व्यक्ति ने अपना अस्तित्त्व खोकर और 'हरि, हरि, हरि हरि सुमरन करौ' जैसे असुंदर भाषाहीन कथात्मक पदों की रचना कर तथा श्री सूर के श्रीमद्वल्लभाचार्य की चरणशरण में आने से पहले रचे गए 'दीनता आश्रय' के पद विशेषों को भागवत अनुसार प्रथम स्कंध तक ही नहीं, दशम स्कंध उत्तरार्द्ध, एकादश और द्वादश स्कंधों को सँजोया, वह आदरणीय है।

रूपरेखा

इस द्वादश स्कंधात्मक सूरसागर की 'रूपरेखा' इस प्रकार है।

प्रथम स्कंध - भक्ति की सरस व्याख्या, भागवत निर्माण का प्रयोजन, शुक उत्पत्ति, व्यास अवतार, संक्षिप्त महाभारत कथा, सूत-शौनक-संवाद, भीष्म प्रतिज्ञा, भीष्म-देह-त्याग, कृष्ण-द्वारिका-गमन, युधिष्ठिर वैराग्य, पांडवों का हिमालयगमन, परीक्षित जन्म, ऋषिशाप, कलियुग को दंड इत्यादि।

द्वितीय स्कंध - सृष्टि उत्पत्ति, विराट् पुरुष का वर्णन, चौबीस अवतारों की कथा, ब्रह्मा उत्पत्ति, भागवत चार श्लोक महिमा। साथ ही इस स्कंध के प्रारंभ

में भक्ति और सत्संग की महिमा, भक्ति साधन, आत्मज्ञान, भगवान की विराट् रूप में भारती का भी यत्विंचित् उल्लेख है।

तृतीय स्कंध – उद्धव–विदुर–संवाद, विदुर को मैत्रेय द्वारा बताए गए ज्ञान की प्राप्ति, सप्तर्षि और चार मनुष्यों की उत्पत्ति, देवासुर जन्म, वाराह–अवतार–वर्णन, कर्दम–देवहूति–विवाह, कपिल मुनि अवतार, देवहूति का कपिल मुनि से भक्ति संबंधी प्रश्न, भक्ति महिमा, देवहूति–हरि–पद–प्राप्ति।

चतुर्थ स्कंध – यज्ञपुरुष अवतार, पार्वती विवाह, ध्रुव कथा, पृथु अवतार, पुरंजन आख्यान।

पंचम स्कंध – ऋषभदेव अवतार, जड़भरत कथा, रहूगण संवाद।

षष्ठ स्कंध – अजामिल उद्धार, बृहस्पति–अवतार–कथन, वृत्र–सुरवध, इंद्र का सिंहासन से च्युत होना, गुरुमहिमा, गुरुकृपा से इंद्र को पुनः सिंहासन प्राप्ति।

सप्तम स्कंध – नृरसिंह–अवतार–वर्णन।

अष्टम स्कंध – गजेंद्रमोक्ष, कूर्मावतार, समुद्र मंथन, विष्णु भगवान का मोहिनी–रूप–धारण, वामन तथा मत्स्य अवतारों का वर्णन।

नवम स्कंध – पुरुरवा–उर्वशी–आख्यान, च्यवन ऋषि कथा, हलधर विवाह, राजा अंबरीय और सौभिर ऋषि का उपाख्यान, गंगा आगमन, परशुराम और श्री राम का अवतार, अहल्योद्धार।

दशम स्कंध (पूर्वार्ध)– भगवान कृष्ण का जन्म, मथुरा से गोकुल पधारना, पूतनावध, शकटासुर तथा तृणावर्त वध, नामकरण, अन्नप्राशन, कर्णछेदन, घुटुरुन चलाना, बालवेशशोभा, चंद्र प्रस्ताव, कलेऊ, मृत्तिकाभक्षण, माखनचोर, गोदोहन, वंत्सासुर, बकासुर, अधासुरों के वध, ब्रह्मा द्वारा गो–वत्स हरण, राधा–प्रथम मिलन, राधा–नंदघर–आगमन, कृष्ण का राधा के घर जाना, गोचारण, धेनुकवध, कालियदमन, प्रलंबासुरवध, मुरली–चीर हरण, पनघट रोकना, गोवर्धन पूजा, दानलीला, नेत्र वर्णन, रासलीला, राधा–कृष्ण–विवाह, मान, राधा गुरुमान, हिंडोला–लीला, वृषभासुर, केशी, भौमासुर वध, अकूर आगमन, कृष्ण का मथुरा चला जाना, कुब्जा मिलन, धोबी संहार, शल, तोषल, मुष्टिक और चाणूर का वध, धनुषभंग, कुवलयापीड़ (हाथी) वध, कंसवध, राजा उग्रसेन को राजगद्दी पर बैठाना, वसुदेव देवकी की कारागार से मुक्ति, यज्ञोपवीत, कुब्जाघर गमन, आदि–आदि।

दशम स्कंध (उत्तरार्द्ध) – जरासंध युद्ध, द्वारका निर्माण, कालियदवन दहन, मुचुकुंद उद्धार, द्वारका प्रवेश, रुक्मिणी विवाह, प्रद्युम्न विवाह, अनिरुद्ध

विवाह, राजा मृग नृग उद्धार, बलराम जी का पुनः ब्रजगमन, सांब विवाह, कृष्ण हस्तिनापुर गमन, जरासंध और शिशुपाल का वध, शाल्व का द्वारका पर आक्रमण, शाल्ववध, दतवक्र का वध, बल्वलवध, सुदामा चरित्र, कुरुक्षेत्र आगमन, कृष्ण का श्रीनंद, यशोदा तथा गोपियों से मिलना, वेद और नारद स्तुतियाँ, अर्जुन-सुभद्रा-विवाह, भस्मासुर वध, भृगु परीक्षा, इत्यादि.। । ।

एकादश स्कंध - श्रीकृष्ण का उद्धव को वदरिकाश्रम भेजना, नारायण तथा हंसावतार कथन।

द्वादश स्कंध - 'बौद्धावतार, कल्कि-अवतार-कथन, राजा परीक्षित तथा जन्मेजय कथा, भगवत् अवतारों का वर्णन आदि।'

इस प्रकार यत्र-तत्र बिखरे इस श्रीमद्भागवत अनुसार द्वादश-स्कंधात्मक रूप में भी, श्री सूर का विशिष्ट वाड्मय 'हरि, हरि, हरि, हरि सुमरैन करौ' जैसे अनेक अनगढ़ काँच मणियों के साथ रगड़ खा-खाकर मटमैला होकर भी कवित्व की प्रभा के साथ कोमलता, कमनीयता, कला, एवं कृष्णस्तुभगवान् स्वयं की सगुणात्मक भक्ति, उसकी भव्यता, विलक्षणता, उनके विलास, व्यंग्य और विदग्धता आदि चमक-चमककर आपके कृतित्त्व रूप सागर को, नित्य गए रूप में दर्शनीय और वंदनीय बना रहे हैं।

सूरदास की मृत्यु

एक समय सूरदास के गुरु आचार्य वल्लभ, श्रीनाथ जी और गोसाई विट्ठलनाथ ने श्रीनाथ जी की आरती के समय सूरदास को अनुपस्थित पाया, सूरदास कभी भी श्रीनाथ जी की आरती नहीं छोड़ते थे। अनुपस्थित पाकर उनके गुरु समझ गए उनका अंतिम समय निकट आ गया हैं। पूजा करके गोसाई जी रामदास, कुम्भनदास, गोविंदस्वामी और चतुर्भुजदास सूरदास की कुटिया पहुंचे, सूरदास अपनी कुटिया में अचेत पड़े हुए थे।

सूरदास ने गोसाई जी का साक्षात् भगवान के रूप में अभिनन्दन किया और उनकी भक्तवत्सलता की प्रशंसा की, चतुर्भुजदास ने इस समय शंका की कि सूरदास ने भगवद्यश तो बहुत गाया, परन्तु आचार्य वल्लभ का यशगान क्यों नहीं किया।

सूरदास ने बताया कि उनके निकट आचार्य जी और भगवान में कोई अन्तर नहीं है, जो भगवद्यश है, वही आचार्य जी का भी यश है। गुरु के प्रति अपना भाव उन्होंने "भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो" वाला पद गाकर प्रकट किया। इसी

पद में सूरदास ने अपने को "द्विविध आन्धरो" भी बताया, गोसाई विट्ठलनाथ ने पहले उनके 'चित्त की वृत्ति' और फिर 'नेत्र की वृत्ति' के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो उन्होंने क्रमशः 'बलि बलि बलि हों कुमरि राधिका नन्द सुवन जासों रति मानी' तथा 'खंजन नैन रूप रस माते' वाले दो पद गाकर सूचित किया कि उनका मन और आत्मा पूर्णरूप से राधा भाव में लीन है। इसके बाद सूरदास ने शरीर त्याग दिया।

सूरदास की मृत्यु संवत् 1642 विक्रमी (1580 ईस्वीं) को गोवर्धन के पास पारसौली ग्राम में हुई, पारसौली वहीँ गाँव हैं, जहाँ पर भगवान कृष्ण अपनी रास लीलायें रचाते थे, सूरदास ने जिस जगह अपने प्राण त्यागे उस जगह आज एक सूरश्याम मंदिर (सूर कुटी) की स्थापना की गयी हैं।

7

दादू दयाल की रचनाओं में लोक जीवन

दादू दयाल (1544-1603 ई.) हिन्दी के भक्तिकाल में ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रमुख सन्त कवि थे। इनके 52 पट्टशिष्य थे, जिनमें गरीबदास, सुंदरदास, रज्जब और बखना मुख्य हैं। दादू के नाम से 'दादू पंथ' चल पड़ा। ये अत्यधिक दयालु थे। इस कारण इनका नाम 'दादू दयाल' पड़ गया। दादू हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी आदि कई भाषाओं के ज्ञाता थे। इन्होंने शबद और साखी लिखीं। इनकी रचना प्रेमभावपूर्ण है। जात-पाँत के निराकरण, हिन्दू-मुसलमानों की एकता आदि विषयों पर इनके पद तर्क-प्रेरित न होकर हृदय-प्रेरित हैं।

परिचय

सन्त दादू दयाल जी महाराज का अवतार संवत् 1601 वि. में भारतवर्ष के गुजरात राज्य के अहमदाबाद नगर में हुआ था। कहा जाता है कि लोधी राम नामक ब्राह्मण को साबरमती में बहता हुआ एक बालक मिला। अधेड़ आयु के उपरांत भी लोधीराम के कोई पुत्र नहीं था जिसकी उन्हें सदा लालसा रहती थी।

एक दिन उन्हें एक सिद्ध संत के दर्शन हुए और उन्होंने अपनी हार्दिक व्यथा उन संत को कह सुनाई। संत ने शरणागत जानकर लोधीराम को पुत्र रत्न की प्राप्ति का वरदान दिया और कहा 'साबरमती नदी में तैरते कमल पत्र पर

शयन करते बालक को अपने घर ले आना, वही तुम्हारा पुत्र होगा' पुत्र प्राप्ति की कामना लेकर श्री लोधीराम ब्राह्मण साबरमती नदी के तट पर गए जहाँ उन्हें पानी पर तैरते कमल पर लेटा हुआ बालक प्राप्त हुआ। इस प्रकार शुभमिति फाल्गुन शुक्ल अष्टमी गुरुवार के दिन विक्रम संवत् 1601 में संत शिरोमणि सद्गुरु श्री दादू दयाल जी महाराज का अवतार हुआ।

अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु परोपकार के लिए तुरंत दे देने के स्वाभाव के कारण उनका नाम "दादू" रखा गया। आप दया दीनता व करुणा के खजाने थे, क्षमा शील और संतोष के कारण आप 'दयाल' अर्थात् "दादू दयाल" कहलाये।

विक्रम सं. 1620 में 12 वर्ष की अवस्था में दादू जी गृह त्याग कर सत्संग के लिए निकल पड़े, केवल प्रभु चिंतन में ही लीन हो गए। अहमदाबाद से प्रस्थान कर भ्रमण करते हुए राजस्थान की आबू पर्वतमाला, तीर्थराज पुष्कर से होते हुए करडाला धाम (जिला जयपुर) पधारे और पूरे 6 वर्षों तक लगातार प्रभु की साधना की कठोर साधना से इन्द्र को आशंका हुई की कहीं इन्द्रासन छीनने के लिए तो वे तपस्या नहीं कर रहे , इसीलिए इंद्र ने उनकी साधना में विघ्न डालने के लिए अप्सरा रूप में माया को भेजा। जिसने साधना में बाधा डालने के लिए अनेक उपाय किये मगर उस महान संत ने माया में व अपने में एकात्म दृष्टि से बहन और भाई का सनातन प्रतिपादित कर उसके प्रेमचक्र को एक पवित्र सूत्र से बाँध कर शांत कर दिया।

संत दादू जी विक्रम सं. 1625 में सांभर पधारे यहाँ उन्होंने मानव-मानव के भेद को दूर करने वाले, सच्चे मार्ग का उपदेश दिया। तत्पश्चात् दादू जी महाराज आमेर पधारे तो वहां की सारी प्रजा और राजा उनके भक्त हो गए।

उसके बाद वे फतेहपुर सीकरी भी गए जहाँ पर बादशाह अकबर ने पूर्ण भक्ति व भावना से दादू जी के दर्शन कर उनके सत्संग व उपदेश ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की तथा लगातार 40 दिनों तक दादू जी से सत्संग करते हुए उपदेश ग्रहण किया। दादू जी के सत्संग से प्रभावित होकर अकबर ने अपने समस्त साम्राज्य में गौ हत्या बंदी का फरमान लागू कर दिया।

उसके बाद दादू जी महाराज नराणा(जिला जयपुर) पधारे और उन्होंने इस नगर को साधना, विश्राम तथा धाम के लिए चुना और यहाँ एक खेजड़े के वृक्ष के नीचे विराजमान होकर लम्बे समय तक तपस्या की और आज भी खेजडा जी के वृक्ष के दर्शन मात्र से तीनों प्रकार के ताप नष्ट होते हैं। यहीं पर उन्होंने ब्रह्मधाम "दादू द्वारा" की स्थापना की जिसके दर्शन मात्र से आज भी सभी

मनोकामनाएं पूर्ण होती है। तत्पश्चात् श्री दादू जी ने सभी संत शिष्यों को अपने ब्रह्मलीन होने का समय बताया।

ब्रह्मलीन होने के लिए निर्धारित दिन (जेयष्ठ कृष्ण अष्टमी सम्वत् 1660) के शुभ समय में श्री दादू जी ने एकांत में ध्यानमग्न होते हुए "सत्यराम" शब्द का उच्चारण कर इस संसार से ब्रह्मलोक को प्रस्थान किया। श्री दादू दयाल जी महाराज के द्वारा स्थापित "दादू पंथ" व "दादू पीठ" आज भी मानव मात्र की सेवा में निर्विघ्न लीन है। वर्तमान में दादूधाम के पीठाधीश्वर के रूप में आचार्य महंत श्री गोपालदास जी महाराज विराजमान हैं।

वर्तमान में भी प्रतिवर्ष फाल्गुन शुक्ल अष्टमी पर नरेना धाम में भव्य मेले का आयोजन होता है तथा इस अवसर पर एक माह के लिए भारत सरकार के आदेश अनुसार वहां से गुजरने वाली प्रत्येक रेलगाड़ी का नराणा स्टेशन पर ठहराव रहता है।

उनके उपदेशों को उनके शिष्य रज्जब जी ने "दादू अनुभव वाणी" के रूप में समाहित किया, जिसमें लगभग 5000 दोहे शामिल हैं। संतप्रवर श्री दादू दयाल जी महाराज को निर्गुण संतों जैसे की कबीर व गुरु नानक के समकक्ष माना जाता है तथा उनके उपदेश व दोहे आज भी समाज को सही राह दिखाते आ रहे हैं।

8

रैदास की रचनाओं में लोक जीवन

रविदास भारत में 15वीं शताब्दी के एक महान संत, दर्शनशास्त्री, कवि, समाज-सुधारक और ईश्वर के अनुयायी थे। वो निर्गुण संप्रदाय अर्थात् संत परंपरा में एक चमकते नेतृत्वकर्ता और प्रसिद्ध व्यक्ति थे तथा उत्तर भारतीय भक्ति आंदोलन को नेतृत्व देते थे। ईश्वर के प्रति अपने असीम प्यार और अपने चाहने वाले, अनुयायी, सामुदायिक और सामाजिक लोगों में सुधार के लिये अपने महान कविता लेखनों के जरिये संत रविदास ने विविध प्रकार के आध्यात्मिक और सामाजिक संदेश दिये।

वो लोगों की नजर में उनकी सामाजिक और आध्यात्मिक जरूरतों को पूरा करने वाले मसीहा के रूप में थे। आध्यात्मिक रूप से समृद्ध रविदास को लोगों द्वारा पूजा जाता था। हर दिन और रात, रविदास के जन्म दिवस के अवसर पर तथा किसी धार्मिक कार्यक्रम के उत्सव पर लोग उनके महान गीतों आदि को सुनते या पढ़ते हैं। उन्हें पूरे विश्व में प्यार और सम्मान दिया जाता है हालाँकि उन्हें सबसे अधिक सम्मान उत्तर प्रदेश, पंजाब और महाराष्ट्र में अपने भक्ति आंदोलन और धार्मिक गीतों के लिये मिलता था।

संत रविदास जयंती

पूरे भारत में खुशी और बड़े उत्साह के साथ माघ महीने के पूर्ण चन्द्रमा दिन पर माघ पूर्णिमा पर हर साल संत रविदास की जयंती या जन्म दिवस को मनाया जाता है। जबकि वाराणसी में लोग इसे किसी उत्सव या त्योहार की तरह मनाते हैं।

2020 (643 वां) - 9 फरवरी

इस खास दिन पर आरती कार्यक्रम के दौरान मंत्रों के रागों के साथ लोगों द्वारा एक नगर कीर्तन जुलूस निकालने की प्रथा है जिसमें गीत-संगीत, गाना और दोहा आदि सड़कों पर बने मंदिरों में गाया जाता है। रविदास के अनुयायी और भक्त उनके जन्म दिवस पर गंगा- स्नान करने भी जाते हैं तथा घर या मंदिर में बनी छवि की पूजा-अर्चना करते हैं। इस पर्व को प्रतीक बनाने के लिये वाराणसी के सीर गोवर्धनपुर के श्री गुरु रविदास जन्म स्थान मंदिर के बेहद प्रसिद्ध स्थान पर हर साल वाराणसी में लोगों के द्वारा इसे बेहद भव्य तरीके से मनाया जाता है। संत रविदास के भक्त और दूसरे अन्य लोग पूरे विश्व से इस उत्सव में सक्रिय रूप से भाग लेने के लिये वाराणसी आते हैं।

संत रविदास से संबंधित तथ्य

जन्म: 1377 एडी में (अर्थात् विक्रम संवत्-माघ सुदी 15, 1433, हालाँकि कुछ लोगों का मानना है कि ये 1440 एडी था) सीर गोवर्धनपुर, वाराणसी, यूपी।

पिता– श्री संतोख दास जी
माता– श्रीमती कालसा देवी जी
दादा– श्री कालूराम जी
दादी– श्रीमती लखपती जी
पत्नी– श्रीमती लोनाजी
पुत्र– विजय दास जी
मृत्यु– वाराणसी में 1540 एडी में।

आरंभिक जीवन

संत रविदास का जन्म भारत के यूपी के वाराणसी शहर में माता कालसा देवी और बाबा संतोख दास जी के घर 15 वीं शताब्दी में हुआ था। हालाँकि,

उनके जन्म की तारीख को लेकर विवाद भी है क्योंकि कुछ का मानना है कि ये 1376, 1377 और कुछ का कहना है कि ये 1399 सीइ में हुआ था। कुछ अध्येता के आँकड़ों के अनुसार ऐसा अनुमान लगाया गया था कि रविदास का पूरा जीवन काल 15वीं से 16वीं शताब्दी सीइ में 1450 से 1520 के बीच तक रहा।

रविदास के पिता मल साम्राज्य के राजा नगर के सरपंच थे और खुद जूतों का व्यापार और उसकी मरम्मत का कार्य करते थे। अपने बचपन से ही रविदास बेहद बहादुर और ईश्वर के बहुत बड़े भक्त थे लेकिन बाद में उन्हें उच्च जाति के द्वारा उत्पन्न भेदभाव की वजह से बहुत संघर्ष करना पड़ा जिसका उन्होंने सामना किया और अपने लेखन के द्वारा रविदास ने लोगों को जीवन के इस तथ्य से अवगत करवाया। उन्होंने हमेशा लोगों को सिखाया कि अपने पड़ोसियों को बिना भेद-भेदभाव के प्यार करो।

पूरी दुनिया में भाईचारा और शांति की स्थापना के साथ ही उनके अनुयायियों को दी गयी महान शिक्षा को याद करने के लिये भी संत रविदास का जन्म दिवस मनाया जाता है। अपने अध्यापन के आरंभिक दिनों में काशी में रहने वाले रूढ़ीवादी ब्राह्मणों के द्वारा उनकी प्रसिद्धि को हमेशा रोका जाता था क्योंकि संत रविदास अस्पृश्यता के भी गुरु थे। सामाजिक व्यवस्था को खराब करने के लिये राजा के सामने लोगों द्वारा उनकी शिकायत की गयी थी। रविदास को भगवान के बारे में बात करने से, साथ ही उनका अनुसरण करने वाले लोगों को अध्यापन और सलाह देने के लिये भी प्रतिबंधित किया गया था।

रविदास की प्रारंभिक शिक्षा

बचपन में संत रविदास अपने गुरु पंडित शारदा नंद की पाठशाला गये जिनको बाद में कुछ उच्च जाति के लोगों द्वारा रोका गया था वहाँ दाखिला लेने से। हालाँकि पंडित शारदा ने यह महसूस किया कि रविदास कोई सामान्य बालक न होकर एक ईश्वर के द्वारा भेजी गयी संतान है, अतः पंडित शारदानंद ने रविदास को अपनी पाठशाला में दाखिला दिया और उनकी शिक्षा की शुरुआत हुयी। वो बहुत ही तेज और होनहार थे और अपने गुरु के सिखाने से ज्यादा प्राप्त करते थे। पंडित शारदा नंद उनसे और उनके व्यवहार से बहुत प्रभावित रहते थे उनका विचार था कि एक दिन रविदास आध्यात्मिक रूप से प्रबुद्ध और महान सामाजिक सुधारक के रूप में जाने जायेंगे।

पाठशाला में पढ़ने के दौरान रविदास पंडित शारदानंद के पुत्र के मित्र बन गये। एक दिन दोनों लोग एक साथ लुका-छिपी खेल रहे थे, पहली बार रविदास जी जीते और दूसरी बार उनके मित्र की जीत हुयी। अगली बार, रविदास जी की बारी थी लेकिन अंधेरा होने की वजह से वो लोग खेल को पूरा नहीं कर सके उसके बाद दोनों ने खेल को अगले दिन सुबह जारी रखने का फैसला किया। अगली सुबह रविदास जी तो आये लेकिन उनके मित्र नहीं आये। वो लंबे समय तक इंतजार करने के बाद अपने उसी मित्र के घर गये और देखा कि उनके मित्र के माता-पिता और पड़ोसी रो रहे थे।

उन्होंने उन्हीं में से एक से इसका कारण पूछा और अपने मित्र की मौत की खबर सुनकर हक्का-बक्का रह गये। उसके बाद उनके गुरु ने संत रविदास को अपने बेटे के लाश के स्थान पर पहुँचाया, वहाँ पहुँचने पर रविदास ने अपने मित्र से कहा कि उठो ये सोने का समय नहीं है दोस्त, ये तो लुका-छिपी खेलने का समय है। जैसै कि जन्म से ही गुरु रविदास दैवीय शक्तियों से समृद्ध थे, रविदास के ये शब्द सुनते ही उनके मित्र फिर से जी उठे। इस आश्चर्यजनक पल को देखने के बाद उनके माता-पिता और पड़ोसी चकित रह गये।

वैवाहिक जीवन

भगवान के प्रति उनके प्यार और भक्ति की वजह से वो अपने पेशेवर पारिवारिक व्यवसाय से नहीं जुड़ पा रहे थे और ये उनके माता-पिता की चिंता का बड़ा कारण था। अपने पारिवारिक व्यवसाय से जुड़ने के लिये इनके माता-पिता ने इनका विवाह काफी कम उम्र में ही श्रीमती लोना देवी से कर दिया जिसके बाद रविदास को पुत्र रत्न की प्राप्ति हुयी जिसका नाम विजयदास पड़ा।

शादी के बाद भी संत रविदास सांसारिक मोह की वजह से पूरी तरह से अपने पारिवारिक व्यवसाय के ऊपर ध्यान नहीं दे पा रहे थे। उनके इस व्यवहार से क्षुब्द होकर उनके पिता ने सांसारिक जीवन को निभाने के लिये बिना किसी मदद के उनको खुद से और पारिवारिक संपत्ति से अलग कर दिया। इस घटना के बाद रविदास अपने ही घर के पीछे रहने लगे और पूरी तरह से अपनी सामाजिक मामलों से जुड़ गये।

बाद का जीवन

बाद में रविदास जी भगवान राम के विभिन्न स्वरूप राम, रघुनाथ, राजा राम चन्द्र, कृष्णा, गोविन्द आदि के नामों का इस्तेमाल अपनी भावनाओं को उजागर करने के लिये करने लगे और उनके महान अनुयायी बन गये।

बेगमपुरा शहर से उनके संबंध

बिना किसी दुख के शांति और इंसानियत के साथ एक शहर के रूप में गुरु रविदास जी द्वारा बेगमपुरा शहर को बसाया गया। अपनी कविताओं को लिखने के दौरान रविदास जी द्वारा बेगमपुरा शहर को एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया गया था जहाँ पर उन्होंने बताया कि एक ऐसा शहर, जो बिना किसी दुख, दर्द या डर के और एक जमीन है जहाँ सभी लोग बिना किसी भेदभाव, गरीबी और जाति अपमान के रहते हैं। एक ऐसी जगह जहाँ कोई शुल्क नहीं देता, कोई भय, चिंता या प्रताड़ना नहीं हो।

मीरा बाई से उनका जुड़ाव

संत रविदास जी को मीरा बाई के आध्यात्मिक गुरु के रूप में माना जाता है, जो कि राजस्थान के राजा की पुत्री और चित्तौड़ की रानी थी। वो संत रविदास के अध्यापन से बेहद प्रभावित थी और उनकी बहुत बड़ी अनुयायी बनी। अपने गुरु के सम्मान में मीरा बाई ने कुछ पंक्तियाँ लिखी है-

"गुरु मिलीया रविदास जी-"

वो अपने माता-पिता की एक मात्र संतान थी, जो बाद में चितौड़ की रानी बनी। मीरा बाई ने बचपन में ही अपनी माँ को खो दिया जिसके बाद वो अपने दादा जी के संरक्षण में आ गयी, जो कि रविदास जी के अनुयायी थे। वो अपने दादा जी के साथ कई बार गुरु रविदास से मिली और उनसे काफी प्रभावित हुयी। अपने विवाह के बाद, उन्हें और उनके पति को गुरु जी से आशीर्वाद प्राप्त हुआ। बाद में मीराबाई ने अपने पति और ससुराल पक्ष के लोगों की सहमति से गुरु जी को अपने वास्तविक गुरु के रूप में स्वीकार किया। इसके बाद उन्होंने गुरु जी के सभी धर्मों के उपदेशों को सुनना शुरू कर दिया जिसने उनके ऊपर गहरा प्रभाव छोड़ा और वो प्रभु भक्ति की ओर आकर्षित हो गयी। कृष्ण प्रेम में डूबी मीराबाई भक्ति गीत गाने लगी और दैवीय शक्ति का गुणगान करने लगी।

अपने गीतों में वो कुछ इस तरह कहती थी–
"गुरु मिलीया रविदास जी दीनी ज्ञान की गुटकी,
चोट लगी निजनाम हरी की महारे हिवरे खटकी"।

दिनों–दिन वो ध्यान की ओर आकर्षित हो रही थी और वो अब संतों के साथ रहने लगी थी। उनके पति की मृत्यु के बाद उनके देवर और ससुराल के लोग उन्हें देखने आये लेकिन वो उन लोगों के सामने बिल्कुल भी व्यग्र और नरम नहीं पड़ी। बल्कि उन्हें तो आधी रात को उन लोगों के द्वारा गंभीरी नदी में फेंक दिया गया था लेकिन गुरु रविदास जी के आशीर्वाद से वो बच गयी।

एक बार अपने देवर के द्वारा दिये गये जहरीले दूध को गुरु जी द्वारा अमृत मान कर पी गयी और खुद को धन्य समझा। उन्होंने कहा कि–

"विष को प्याला राना जी मिलाय द्यो
मेरथानी ने पाये
कर चरणामित् पी गयी रे,
गुण गोविन्द गाये"।

संत रविदास के जीवन की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाएँ

एक बार गुरु जी के कुछ विद्यार्थी और अनुयायी ने पवित्र नदी गंगा में स्नान के लिये पूछा तो उन्होंने ये कह कर मना किया कि उन्होंने पहले से ही अपने एक ग्राहक को जूता देने का वादा कर दिया है तो अब वही उनकी प्राथमिक जिम्मेदारी है। रविदास जी के एक विद्यार्थी ने उनसे दुबारा निवेदन किया तब उन्होंने कहा उनका मानना है कि "मन चंगा तो कटौती में गंगा" मतलब शरीर को आत्मा से पवित्र होने की जरूरत है ना कि किसी पवित्र नदी में नहाने से, अगर हमारी आत्मा और हृदय शुद्ध है तो हम पूरी तरह से पवित्र है चाहे हम घर में ही क्यों न नहाये।

एक बार उन्होंने अपने एक ब्राह्मण मित्र की रक्षा एक भूखे शेर से की थी जिसके बाद वो दोनों गहरे साथी बन गये। हालाँकि दूसरे ब्राह्मण लोग इस दोस्ती से जलते थे सो उन्होंने इस बात की शिकायत राजा से कर दी। रविदास जी के उस ब्राह्मण मित्र को राजा ने अपने दरबार में बुलाया और भूखे शेर द्वारा मार डालने का हुक्म दिया। शेर जल्दी से उस ब्राह्मण लड़के को मारने के लिये आया लेकिन गुरु रविदास को उस लड़के को बचाने के लिये खड़े देख शेर थोड़ा शांत हुआ। शेर वहाँ से चला गया और गुरु रविदास अपने मित्र को अपने

घर ले गये। इस बात से राजा और ब्राह्मण लोग बेहद शर्मिंदा हुये और वो सभी गुरु रविदास के अनुयायी बन गये।

सामाजिक मुद्दों में गुरु रविदास की सहभागिता

वास्तविक धर्म को बचाने के लिये रविदास जी को ईश्वर द्वारा धरती पर भेजा गया था क्योंकि उस समय सामाजिक और धार्मिक स्वरूप बेहद दु:खद था। क्योंकि इंसानों द्वारा ही इंसानों के लिये ही रंग, जाति, धर्म तथा सामाजिक मान्यताओं का भेदभाव किया जा चुका था। वो बहुत ही बहादुरी के साथ सभी भेदभाव को स्वीकार करते और लोगों को वास्तविक मान्यताओं और जाति के बारे में बताते। वो लोगों को सिखाते कि कोई भी अपने जाति या धर्म के लिये नहीं जाना जाता, इंसान अपने कर्म से पहचाना जाता है। गुरु रविदास जी समाज में अस्पृश्यता के खिलाफ भी लड़े, जो उच्च जाति द्वारा निम्न जाति के लोगों के साथ किया जाता था।

उनके समय में निम्न जाति के लोगों की उपेक्षा होती थी, वो समाज में उच्च जाति के लोगों की तरह दिन में कहीं भी आ-जा नहीं सकते थे, उनके बच्चे स्कूलों में पढ़ नहीं सकते थे, मंदिरों में नहीं जा सकते थे, उन्हें पक्के मकान के बजाय सिर्फ झोपड़ियों में ही रहने की आजादी थी और भी ऐसे कई प्रतिबंध थे, जो बिल्कुल अनुचित थे। इस तरह की सामाजिक समयस्याओं को देखकर गुरु जी ने निम्न जाति के लोगों की बुरी परिस्थिति को हमेशा के लिये दूर करने के लिये हर एक को आध्यात्मिक संदेश देना शुरू कर दिया।

उन्होंने लोगों को संदेश दिया कि "ईश्वर ने इंसान बनाया है ना कि इंसान ने ईश्वर बनाया है" अर्थात् इस धरती पर सभी को भगवान ने बनाया है और सभी के अधिकार समान है। इस सामाजिक परिस्थिति के संदर्भ में, संत गुरु रविदास जी ने लोगों को वैश्विक भाईचारा और सहिष्णुता का ज्ञान दिया। गुरु जी के अध्यापन से प्रभावित होकर चितौड़ साम्राज्य के राजा और रानी उनके अनुयायी बन गये।

सिक्ख धर्म के लिये गुरु जी का योगदान

सिक्ख धर्मग्रंथ में उनके पद, भक्ति गीत, और दूसरे लेखन (41 पद) आदि दिये गये थे, गुरु ग्रंथ साहिब, जो कि पाँचवें सिक्ख गुरु अर्जन देव द्वारा संकलित की गयी। सामान्यत: रविदास जी के अध्यापन के अनुयायी को

रविदासीया कहा जाता है और रविदासीया के समूह को अध्यापन का रविदासीया पंथ कहा जाता है।

गुरु ग्रंथ साहिब में उनके द्वारा लिखे गये 41 पवित्र लेख है, जो इस प्रकार है, "रागा-सिरी(1), गौरी(5), असा(6), गुजारी(1), सोरथ(7), धनसरी(3), जैतसारी(1), सुही(3), बिलावल(2), गौंड(2), रामकली(1), मारु(2), केदारा(1), भाईरऊ(1), बसंत(1), और मलहार(3)"।

ईश्वर के द्वारा उनकी महानता की जाँच की गयी थी

वो अपने समय के महान संत थे और एक आम व्यक्ति की तरह जीवन को जीने की वरीयता देते हैं। कई बड़े राजा-रानियों और दूसरे समृद्ध लोग उनके बड़े अनुयायी थे लेकिन वो किसी से भी किसी प्रकार का धन या उपहार नहीं स्वीकारते थे। एक दिन भगवान के द्वारा उनके अंदर एक आम इंसान के लालच को परखा गया, एक दर्शनशास्त्री गुरु रविदास जी के पास एक पत्थर ले कर आये और उसके बारे में आश्चर्यजनक बात बतायी कि ये किसी भी लोहे को सोने में बदल सकता सकता है। उस दर्शनशास्त्री ने गुरु रविदास को उस पत्थर को लेने के लिये दबाव दिया और साधारण झोपड़े की जगह बड़ी-बड़ी इमारतें बनाने को कहा। लेकिन उन्होंने ऐसा करने से मना कर दिया।

उस दर्शनशास्त्री ने फिर से उस पत्थर को रखने के लिये गुरु जी पर दबाव डाला और कहा कि मैं इसे लौटते वक्त वापस ले लूँगा साथ ही इसको अपनी झोपड़ी की किसी खास जगह पर रखने को कहा। गुरु जी ने उसकी ये बात मान ली। वो दर्शनशास्त्री कई वर्षों बाद लौटा तो पाया कि वो पत्थर उसी तरह रखा हुआ है। गुरु जी के इस अटलता और धन के प्रति इस विकर्षणता से वो बहुत खुश हुए। उन्होंने वो कीमती पत्थर लिया और वहाँ से गायब हो गये। गुरु रविदास ने हमेशा अपने अनुयायियों को सिखाया कि कभी धन के लिये लालची मत बनो, धन कभी स्थायी नहीं होता, इसके बजाय आजीविका के लिये कड़ी मेहनत करो।

एक बार जब उनको और दूसरे दलितों को पूजा करने के जुर्म में काशी नरेश के द्वारा उनके दरबार में कुछ ब्राह्मणों की शिकायत पर बुलाया गया था, तो ये ही वो व्यक्ति थे जिन्होंने सभी गैर-जरूरी धार्मिक संस्कारों को हटाने के द्वारा पूजा की प्रकिया को आसान बना दिया। संत रविदास को राजा के दरबार में प्रस्तुत किया गया जहाँ गुरु जी और पंडित पुजारी से फैसले वाले

दिन अपने-अपने इष्ट देव की मूर्ति को गंगा नदी के घाट पर लाने को कहा गया।

राजा ने ये घोषणा की कि अगर किसी एक की मूर्ति नदी में तैरेगी तो वो सच्चा पुजारी होगा अन्यथा झूठा होगा। दोनों गंगा नदी के किनारे घाट पर पहुँचे और राजा की घोषणा के अनुसार कार्य करने लगे। ब्राह्मण ने हल्के भार वाली सूती कपड़े में लपेटी हुयी भगवान की मूर्ति लायी थी, वहीं संत रविदास ने 40 कि.ग्रा. की चाकोर आकार की मूर्ती ले आयी थी। राजा के समक्ष गंगा नदी के राजघाट पर इस कार्यक्रम को देखने के लिये बहुत बड़ी भीड़ उमड़ी थी।

पहला मौका ब्राह्मण पुजारी को दिया गया, पुजारी जी ने ढ़ेर सारे मंत्र-उच्चारण के साथ मूर्ति को गंगा जी में प्रवाहित किया लेकिन वो गहरे पानी में डूब गयी। उसी तरह दूसरा मौका संत रविदास का आया, गुरु जी ने मूर्ति को अपने कंधों पर लिया और शिष्टता के साथ उसे पानी में रख दिया, जो कि पानी की सतह पर तैरने लगी। इस प्रकिया के खत्म होने के बाद ये फैसला हुआ कि ब्राह्मण झूठा पुजारी था और गुरु रविदास सच्चे भक्त थे।

दलितों को पूजा के लिये मिले अधिकार से खुश होकर सभी लोग उनके पाँव को स्पर्श करने लगे। तब से, काशी नरेश और दूसरे लोग जो कि गुरु जी के खिलाफ थे, अब उनका सम्मान और अनुसरण करने लगे। उस खास खुशी के और विजयी पल को दरबार की दिवारों पर भविष्य के लिये सुनहरे अक्षरों से लिख दिया गया।

संत रविदास को कुष्ठ रोग को ठीक करने के लिये प्राकृतिक शक्ति मिली हुई थी। समाज में उनकी महान प्राकृतिक शक्तियों से भरी गजब की क्रिया के बाद ईश्वर के प्रति उनकी सच्चाई से प्रभावित होकर हर जाति और धर्म के लोगों पर उनका प्रभाव पड़ा और सभी गुरु जी के मजबूत विद्यार्थी, अनुयायी और भक्त बन गये। बहुत साल पहले उन्होंने अपने अनुयायियों को उपदेश दिया था और तब एक धनी सेठ भी वहाँ पहुँचा मनुष्य के जन्म के महत्त्व के ऊपर धार्मिक उपदेश को सुनने के लिये। धार्मिक उपदेश के अंत में गुरु जी ने सभी को प्रसाद के रूप में अपने मिट्टी के बर्तन से पवित्र पानी दिया। लोगों ने उसको ग्रहण किया और पीना शुरू किया हालाँकि धनी सेठ ने उस पानी को गंदा समझ कर अपने पीछे फेंक दिया, जो बराबर रूप से उसके पैरों और जमींन पर गिर गया। वो अपने घर गया और उस कपड़े को कुष्ठ रोग से पीड़ित एक गरीब आदमी को दे दिया। उस कपड़े को पहनते ही उस आदमी के पूरे शरीर

को आराम महसूस होने लगा जबकि उसके जख्म जल्दी भरने लगे और वो जल्दी ठीक हो गया।

हालाँकि धनी सेठ को कुष्ठ रोग हो गया, जो कि महँगे उपचार और अनुभवी और योग्य वैद्य द्वारा भी ठीक नहीं हो सका। उसकी स्थिति दिनों-दिन बिगड़ती चली गयी तब उसे अपनी गलतियों का एहसास हुआ और वो गुरु जी के पास माफी माँगने के लिये गया और जख्मों को ठीक करने के लिये गुरु जी से वो पवित्र जल प्राप्त किया। चूँकि गुरु जी बेहद दयालु थे इसलिये उसको माफ करने के साथ ही ठीक होने का ढ़ेर सारा आशीर्वाद भी दिया। अंततः वो धनी सेठ और उसका पूरा परिवार संत रविदास का भक्त हो गया।

संत रविदास का सकारात्मक नजरिया

उनके समय में शुद्रों (अस्पृश्य) को ब्राह्मणों की तरह जनेऊ, माथे पर तिलक और दूसरे धार्मिक संस्कारों की आजादी नहीं थी। संत रविदास एक महान व्यक्ति थे, जो समाज में अस्पृश्यों के बराबरी के अधिकार के लिये उन सभी निषेधों के खिलाफ थे, जो उन पर रोक लगाती थी। उन्होंने वो सभी क्रियाएँ जैसे– जनेऊ धारण करना, धोती पहनना, तिलक लगाना आदि निम्न जाति के लोगों के साथ शुरू किया, जो उन पर प्रतिबंधित था।

ब्राह्मण लोग उनकी इस बात से नाराज थे और समाज में अस्पृश्यों के लिये ऐसे कार्यों को जाँचने का प्रयास किया। हालाँकि गुरु रविदास जी ने हर बुरी परिस्थिति का बहादुरी के साथ सामना किया और बेहद विनम्रता से लोगों को जवाब दिया। अस्पृश्य होने के बावजूद भी जनेऊ पहनने के कारण ब्राह्मणों की शिकायत पर उन्हें राजा के दरबार में बुलाया गया। वहाँ उपस्थित होकर उन्होंने कहा कि अस्पृश्यों को भी समाज में बराबरी का अधिकार मिलना चाहिये क्योंकि उनके शरीर में भी दूसरों की तरह खून का रंग लाल और पवित्र आत्मा होती है।

संत रविदास ने तुरंत अपनी छाती पर एक गहरी चोट की और उस पर चार युग, जैसे सतयुग, त्रेतायुग, द्वापर और कलयुग की तरह सोना, चाँदी, ताँबा और सूती के चार जनेऊ खींच दिये। राजा समेत सभी लोग अचंभित रह गये और गुरु जी के सम्मान में सभी उनके चरणों को छूने लगे। राजा को अपने बचपने जैसे व्यवहार पर बहुत शर्मिंदगी महसूस हुयी और उन्होंने इसके लिये माफी माँगी। गुरु जी ने सभी को माफ करते हुए कहा कि जनेऊ धारण करने का ये

मतलब नहीं कि कोई भगवान को प्राप्त कर लेता है। इस कार्य में वो केवल इसलिये शामिल हुए ताकि वो लोगों को वास्तविकता और सच्चाई बता सके। गुरु जी ने जनेऊ निकाला और राजा को दे दिया इसके बाद उन्होंने कभी जनेऊ और तिलक का इस्तेमाल नहीं किया।

कुंभ उत्सव पर एक कार्यक्रम

एक बार पंडित गंगा राम गुरु जी से मिले और उनका सम्मान किया। वो हरिद्वार में कुंभ उत्सव में जा रहे थे गुरु जी ने उनसे कहा कि ये सिक्का आप गंगा माता को दे दीजियेगा अगर वो इसे आपके हाथों से स्वीकार करें। पंडित जी ने बड़ी सहजता से इसे ले लिया और वहाँ से हरिद्वार चले गये। वो वहाँ पर नहाये और वापस अपने घर लौटने लगे बिना गुरु जी का सिक्का गंगा माता को दिये।

वो अपने रास्ते में थोड़ा कमजोर होकर बैठ गये और महसूस किया कि वो कुछ भूल रहे हैं, वो दुबारा से नदी के किनारे वापस गये और जोर से चिल्लाए माता, गंगा माँ पानी से बाहर निकली और उनके अपने हाथ से सिक्के को स्वीकार किया। माँ गंगा ने संत रविदास के लिये सोने के कँगन भेजे। पंडित गंगा राम घर वापस आये वो कँगन गुरु जी के बजाय अपनी पत्नी को दे दिये।

एक दिन पंडित जी की पत्नी उस कँगन को बाजार में बेचने के लिये गयी। सोनार चालाक था, सो उसने कँगन को राजा और रानी को दिखाने का फैसला किया। रानी ने उस कँगन को बहुत पसंद किया और एक और लाने को कहा। राजा ने घोषणा की कि कोई इस तरह के कँगन नहीं लेगा, पंडित अपने किये पर बहुत शर्मिंदा था क्योंकि उसने गुरु जी को धोखा दिया था। वो रविदास जी से मिला और माफी के लिये निवेदन किया। गुरु जी ने उससे कहा कि "मन चंगा तो कटौती में गंगा" ये लो दूसरे कँगन, जो पानी से भरे जल में मिट्टी के बर्तन में गंगा के रूप में यहाँ बह रही है। गुरु जी की इस दैवीय शक्ति को देखकर वो गुरु जी का भक्त बन गया।

उनके पिता के मौत के समय की घटना

रविदास की पिता की मृत्यु के बाद उन्होंने अपने पड़ोसियों से विनती की कि वो गंगा नदी के किनारे अंतिम रिवाज में मदद करें। हालाँकि ब्राह्मण रीति के संदर्भ में खिलाफ थे कि वो गंगा के जल से स्नान करेंगे, जो रस्म की जगह

से मुख्य शहर की ओर जाता है और वो प्रदूषित हो जायेगा। गुरु जी बहुत दुखी और मजबूर हो गये हालाँकि उन्होंने कभी भी अपना धैर्य नहीं खोया और अपने पिता की आत्मा की शांति के लिये प्रार्थना करने लगे। अचानक से वातावरण में एक भयानक तूफान आया और नदी का पानी उल्टी दिशा में बहना प्रारंभ हो गया और जल की एक गहरी तरंग आयी और लाश को अपने साथ ले गयी। इस बवंडर ने आस-पास की सभी चीजों को सोख लिया। तब से, गंगा का पानी उल्टी दिशा में बह रहा है।

कैसे बाबर प्रभावित हुए रविदास के अध्यापन से

इतिहास के अनुसार बाबर मुगल साम्राज्य का पहला राजा था, जो 1526 में पानीपत का युद्ध जीतने के बाद दिल्ली के सिहांसन पर बैठा जहाँ उसने भगवान के भरोसे के लिये लाखों लोगों को कुर्बान कर दिया। वो पहले से ही संत रविदास की दैवीय शक्तियों से परिचित था और फैसला किया कि एक दिन वो हुमायुँ के साथ गुरु जी से मिलेगा। वो वहाँ गया और गुरु जी को सम्मान देने के लिये उनके पैर छूए हालाँकि, आशीर्वाद के बजाय उसे गुरु जी से सजा मिली क्योंकि उसने लाखों निर्दोष लोगों की हत्याएँ की थी। गुरु जी ने उसे गहराई से समझाया जिसने बाबर को बहुत प्रभावित किया और इसके बाद वो भी संत रविदास का अनुयायी बन गया तथा दिल्ली और आगरा के गरीबों की सेवा के द्वारा समाज सेवा करने लगा।

संत रविदास की मृत्यु

समाज में बराबरी, सभी भगवान एक है, इंसानियत, उनकी अच्छाई और बहुत से कारणों की वजह से बदलते समय के साथ संत रविदास के अनुयायियों की संख्या बढ़ती ही जा रही थी। दूसरी तरफ, कुछ ब्राह्मण और पीरन दित्ता मिरासी गुरु जी को मारने की योजना बना रहे थे इस वजह से उन लोगों ने गाँव से दूर एक एकांत जगह पर मिलने का समय तय किया। किसी विषय पर चर्चा के लिये उन लोगों ने गुरु जी को वहाँ पर बुलाया जहाँ उन्होंने गुरु जी की हत्या की साजिश रची थी हालाँकि गुरु जी को अपनी दैवीय शक्ति की वजह से पहले से ही सब कुछ पता चल गया था।

जैसे ही चर्चा शुरू हुई, गुरु जी उन्हीं के एक साथी भल्ला नाथ के रुप में दिखायी दिये, जो कि गलती से तब मारा गया था। बाद में जब गुरु जी ने

अपने झोपड़े में शंखनाद किया, तो सभी हत्यारे गुरु जी को जिंदा देख भौंचक्के रह गये तब वो हत्या की जगह पर गये जहाँ पर उन्होंने संत रविदास की जगह अपने ही साथी भल्ला नाथ की लाश पायी। उन सभी को अपने कृत्य पर पछतावा हुआ और वो लोग गुरु जी से माफी माँगने उनके झोपड़े में गये।

हालाँकि, उनके कुछ भक्तों का मानना है कि गुरु जी की मृत्यु प्राकृतिक रूप से 120 या 126 साल में हो गयी थी। कुछ का मानना है उनका निधन वाराणसी में 1540 एडी में हुआ था।

गुरु रविदास जी के लिये स्मारक

वाराणसी में श्री गुरु रविदास पार्क

वाराणसी में श्री गुरु रविदास पार्क है, जो नगवा में उनकी यादगार के रूप में बनाया गया है, जो उनके नाम पर "गुरु रविदास स्मारक और पार्क" बना है

गुरु रविदास घाट

वाराणसी में पार्क से बिल्कुल सटा हुआ उनके नाम पर गंगा नदी के किनारे लागू करने के लिये गुरु रविदास घाट भी भारतीय सरकार द्वारा प्रस्तावित है।

संत रविदास नगर

ज्ञानपुर जिले के निकट संत रविदास नगर है, जो कि पहले भदोही नाम से था अब उसका नाम भी संत रविदास नगर है।

श्री गुरु रविदास जन्म स्थान मंदिर वाराणसी

इनके सम्मान में सीर गोवर्धनपुर, वाराणसी में श्री गुरु रविदास जन्म स्थान मंदिर स्थित है, जो इनके सम्मान में बनाया गया है पूरी दुनिया में इनके अनुयायियों द्वारा चलाया जाता है, जो अब प्रधान धार्मिक कार्यालय के रूप में है।

श्री गुरु रविदास स्मारक गेट

वाराणसी के लंका चौराहे पर एक बड़ा गेट है, जो इनके सम्मान में बनाया गया है।

इनके नाम पर देश के साथ ही विदेशों में भी स्मारक बनाये गये हैं।

संत रैदास : जीवन और दृष्टि

भारतीय संस्कृति अंतर्विरोधों का विचित्र समन्वय है। यहाँ एक ओर तो किसी अछूत को पूजा, उपासना और पठन-पाठन का अधिकार नहीं दिया जाता था, वहीं दूसरी ओर यदि कोई अछूत सिद्धि प्राप्त कर ले तो उसे उदारता से स्वीकार भी कर लिया जाता रहा। मध्यकालीन भारत में संत कवि रैदास इन्हीं अंतर्विरोधों का एक सशक्त उदाहरण हैं। क्रांतिकारी, समाज सुधारक, दार्शनिक, भक्त और कवि जैसी अनेक विशेषताओं से विभूषित उनके व्यक्तित्त्व को अब तक एक जाति विशेष तक सीमित कर उनकी परिधि को छोटा ही किया गया। जबकि मध्यकालीन संत कवियों में वे कबीर के बाद सबसे लोकप्रिय संत कवि थे। जिन्हें जयदेव, नामदेव और गुरुनानक जैसे महान संतों की अविरल परंपरा की महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में जाना जाता है। आश्चर्य की बात है कि अभी तक भी संत रैदास का जीवनवृत्त विवादास्पद है। उनके समय पर विवाद हो सकता है, किंतु हिंदी साहित्य में तो उनके नाम पर भी विवाद है। डॉ. संगमलाल पांडे के अनुसार - "रविदास के कुल बारह नाम मिलते हैं।" यथा - "रैदास, रयदास, रुइदास, रुईदास, रयिदास, रोहीदास, रोहीतास, रहदास, रामदास, रमादास, रविदास और हरिदास।" लेकिन सामान्य रूप से प्रचलित नाम रैदास और रविदास ही है।

हिंदी साहित्य में अभी तक रैदास का समय भी विवाद का विषय है। "आचार्य रामचंद्र शुक्ल तो संभवतः आधारभूत सामग्री के अभाव में रैदास के जन्म एवं निर्वाण का कोई भी संवत् तय नहीं करते हैं।" सबसे प्रथम "आचार्य परशुराम चतुर्वेदी अनुमान के आधार पर इनका जीवनकाल विक्रम की 15वीं से 16वीं शताब्दी तक पहुँचता हुआ मानते हैं।" डॉ. रामकुमार वर्मा लिखते हैं कि - "ये रामानंद के शिष्य और कबीर के समकालीन थे, अतः इनका आविर्भावकाल कबीर के समय में ही मानना चाहिए, जो संवत् 1445 से सं. 1575 है।" ऐसा ही अनुमान "डॉ. राजेंद्र कुमार का भी है।" डॉ. गणपति चंद्र गुप्त भी "रैदास को कबीर का समकालीन मानते हुए उनका समय सं. 1455 से सं. 1575 ही तय करते हैं।" रैदास पर विवेचनात्मक पुस्तकें लिखने वालों में भी मतवैभिन्य देखने को मिलता है। श्री रामानंद शास्त्री एवं वीरेंद्र पांडे ने सर्वप्रथम रैदास संप्रदाय में प्रचलित विश्वास को आधार मानते हुए लिखा है कि - "संत रविदास का नाम जैसा कि उपलब्ध साहित्य हमें बताता है, परंपरा के अनुसार रविवार के दिन उत्पन्न होने के कारण रखा गया। आज भी अपने देश

में यह परंपरा प्रचलित है, अत: हमें इस तथ्य को नि:संकोच स्वीकार कर लेना चाहिए कि संत रविदास रविवार के दिन उत्पन्न हुए थे। जहाँ तक तिथि का संबंध है, सभी रविदासी गद्दियाँ सदियों से माघ पूर्णिमा को ही संत रविदास की जन्म तिथि मानती चली आई हैं, अत: हमें इसे ही मान्यता देनी चाहिए। यदि यह जन्मतिथि और जन्म दिन सही है तो इसके आधार पर संत रविदास का निश्चित जन्म संवत् भी ढूँढ़ा जा सकता है। संवत् 1441 वि. से लेकर संवत् 1454-55 वि. तक जिस वर्ष भी माघ की पूर्णिमा रविवार को पड़ता है, वही रविदास का निश्चित जन्म संवत् माना जाना चाहिए।" इसी कथन को आधार मानते हुए आचार्य पृथ्वी सिंह आजाद ने पंचांग के अनुसार गणना कर लिखा कि - "हमने पंचांग के अनुसार संवत् 1441 से लेकर संवत् 1455 तक शोध करके देखा है। रविवार केवल संवत् 1443 की माघ पूर्णिमा को पड़ता है। परंतु हम यह जन्म संवत् इसलिए मानने को तैयार नहीं है कि उस दिन फाल्गुन का प्रथम प्रविष्ठा न होकर माघ का प्रविष्ठा पड़ता है और दूसरे इस संवत् को न तो किसी अन्य विद्वान ने स्वीकार किया और न ही पुरातन रविदासिया संतों ने ही।" आजाद साहब ने अपनी एक अन्य पुस्तक में लिखा है कि - "संत करमदास जी ने गुरु रविदास जी का जन्म, माघ पूर्णिमा संवत् 1433 वि. माना है। गणना के अनुसार इस दिन रविवार ही पड़ता है और अन्य किसी भी तिथि को जिन्हें रविदास जी के जन्म दिन से जोड़ा जाता है, रविवार को नहीं पड़ता।"

गुरु रविदास जी की जन्मतिथि के विषय में रविदास संप्रदाय में निम्नलिखित दोहा शताब्दियों से प्रचलित है -

चौदह सौ तैंतीस की माघ सुदी परदास।
दुखियों के कल्याण हित प्रकटे श्री रैदास।।

गुरु रविदास जी का निर्वाण संवत् 1584 वि. में हुआ माना जाता है। जिसका आधार श्री अनंतदास वैष्णव द्वारा रचित 'रैदास जी की परचई' (रचनाकाल सं. 1645 वि.) का निम्नलिखित दोहा है -

"पंद्रह सै चउ असी, चीतौरे भई भीर।
जर्जर देह कंचन भई, रवि-रवि मिल्यौ शरीर।।"

संत गुरु रविदास के निर्वाण के संबंध में एक दोहा और प्रचलित है -

"पंद्रहसै चौअसी करि, कृष्ण चौदस चौतमास।
गंभीरी पे ब्रह्मलीन भये स्री रविदास।

पूरम ब्रह्मन सूँ जा मिले ब्रह्मरूप रविदास।
नामदान का गिआन देई कीन्हों जग उजिआस।।"

रैदास का जन्म किस स्थान पर हुआ यह भी पर्याप्त विवाद का विषय रहा है। इस विवाद की ओर संकेत करते हुए डॉ. पद्म गुरुचरन सिंह लिखते हैं – "संत रविदास के जन्म स्थान के संबंध में रविदास संप्रदाय के अनुयायियों में मतभेद है। कोई इनका जन्म स्थान पश्चिमी उत्तर प्रदेश बतलाता है तो कोई गुजरात और राजस्थान। इसी तरह कुछ लोगों की धारणा है कि संत जी का जन्म स्थान राजस्थान में मेवाड़ का कोई कस्बा रहा होगा। कुछ लोग इन्हें राजस्थान में मांडवगढ़ का निवासी सिद्ध करते हैं।" इस विवाद का कारण हमें 'रैदास रामायण' की निम्न पंक्तियाँ प्रतीत होती है –

काशी ढिग माडुर स्थाना, शुद वरन करत गुजराना।
माडुर नगर लीन अवतारा, रविदास शुभ नाम हमारा।।

इन पंक्तियों में मांडुर नामक नगर को लोगों ने राजस्थान में स्थिति इसलिए मान लिया क्योंकि रैदास ने अपना देह त्याग राजस्थान में किया था। और वह काशी (वाराणसी) के पास वाले अंश को नजरअंदाज कर गए।

डॉ. काशीनाथ उपाध्याय रैदास का जन्म स्थान सीर गोवर्धनपुर को भी मानने की बात कहते हैं। वे लिखते हैं कि – "आदि धर्म मिशन मतावलंबी श्री बंताराम होरा की नई खोज के आधार पर कुछ आधुनिक विद्वान अब यह मानने लगे हैं कि रविदास जी का जन्म बनारस के पास की एक छोटी-सी बस्ती सीर गोवर्धनपुर में हुआ था।" उन्होंने श्री धेरा द्वारा 1964 ई. में इसी स्थान से किसी प्राचीन पांडुलिपि के प्राप्त करने का भी उल्लेख किया है। इस विवरण का आधार उन्होंने श्री वीरेंद सेठी द्वारा लिखित – 'मीरा प्रेम दीवानी' पुस्तक को माना है, इसमें यह उल्लेख है – "हाल ही में कुछ विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि रैदास का जन्म सीर गोवर्धनपुर गाँव है, जो बनारस से लगा हुआ है। 1971 में रविदास का स्मारक मंदिर बनाया गया, जिसका उद्घाटन बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के उप कुलपति ने किया।" मेरे विचार से यह वहीं मंदिर है जो बनारस में बनाया गया। यह खोज भी रैदास के जन्म स्थान को बनारस के पास ही होने को प्रमाणित करती है। रैदास का जन्म काशी के पास ही हुआ इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं अपनी वाणी में किया है –

मेरी जाति कुटवांढला ढोर ढोवन्ता।
नितहि बनारसी आस-पासा।

जाके कुटुंब के ढेढ सभ ढोर ढोढ़त।
फिरहि बनारसी आस-पासा।।
आचार सहित विप्र कराहिं डंडउति।
तिन तैन रविदास दासान दासा।।

रैदास के जन्म स्थान के बाद अब हम जाति की बात करते हैं। अंतत: और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर यह निश्चित हो चुका है कि रैदास जाति से चर्मकार थे। उन्होंने अपनी वाणी में बार-बार स्वयं को चमार घोषित किया है। कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं -

नागर जनाँ मेरी जाति विखियात चमार।
रिदै राम गोविंद गुन सार।।
कह रैदास खलास चमारा।
जो सहरू सो मीतु हमारा।।
मेरी जाति कमीनी पांति कमीनी ओच्छा जनमु हमारा।
तुम सरना गति राजा रामचंद्र कहि रैदास चमार।।

चमार जाति उत्तर प्रदेश ही नहीं संपूर्ण भारत में अछूत समझी जाती थी, जिसमें उत्पन्न व्यक्ति को दूसरी उच्च जातियों में उत्पन्न व्यक्ति, छूना तक पाप समझते थे। इसका उल्लेख रैदास ने अपनी साखी में इस प्रकार किया है -

"रैदास तू काँवचि फली, तुझहुँ न छिवे कोइ।"

इस घृणा का कारण शायद यह हो कि इस जाति के लोग मृत पशुओं को ढोने, उनकी खाल निकालकर जूता बनाने का काम ही नहीं करते थे, बल्कि मृत पशुओं का मांस भी खाते थे। अपनी वाणी में रैदास ने अपने परिवार के लोगों का बनारस के आसपास मृत पशुओं को ढोने का उल्लेख किया है -

जाकै कुटुंब के ढेढ़ सभ ढोर ढोवंत।
फिरहि बनारसी आस-पासा।।
श्श्मेरी जाति कुटवाँढला ढोर ढुवन्ता
नितहि बनारसी आस-पासा।।

वह रैदास जिसने अपनी वाणी में बार-बार 'कह रैदास चमार' और 'कह रैदास खलास चमारा' कहकर स्वयं को चमार घोषित किया है। इसी रैदास की प्रसिद्धि, सिद्धि और लोकप्रियता को देखकर कुछ लोगों ने उन्हें पूर्व जन्म का ब्राह्मण माना है, जिसने ब्राह्मण होकर मांस खाया था इसलिए उन्हें इस जन्म में चमार के घर जन्म लेना पड़ा। उन्होंने लिखा है -

'पूरब जन्म विप्र ही होता।
मांस न छाड़यो निस दिन श्रोता।
तिहि अपराधि नीच कुल दीना।
पाछला जनम चीन्ही तिन लीना।।

रैदास के वंश संबंधी अधिकतम जानकारी, जो अब तक विद्वानों ने बड़े परिश्रम से प्राप्त की है, उसके अनुसार भी पक्के तौर पर रैदास के वंश को निश्चित करना संभव प्रतीत नहीं होता। क्योंकि रैदास संप्रदाय में प्रचलित जनश्रुतियाँ कुछ और है और हमारे पुरातन साहित्य में उपलब्ध उल्लेख कुछ और है। इस संपूर्ण सामग्री का विवेचन निम्न प्रकार किया जा रहा है –

"भविष्य पुराण" के अनुसार – "मानदासस्य तनयो, रैदास इति विश्रुतः।।"

रैदास के पिता का नाम मानदास दिया गया है। लेकिन 'रैदास की बानी' के संपादक ने उनके पिता का नाम 'रग्घू' दिया है। श्रीमती कला शुक्ला ने भी इसी नाम का उल्लेख किया है। बाद के सभी विद्वानों ने रैदास के पिता का नाम राघवदास या रग्घू ही दिया है।

उनकी माता का नाम 'रैदास की बानी' के संपादक ने 'घुरबिनिया' दिया है। श्रीमती कला शुक्ला ने भी यही नाम माना है। लेकिन संप्रदाय में प्रचलित रैदास की माँ का नाम 'कर्मा' या 'कर्माबाई' है। बाद के विद्वानों ने भी इसी नाम को मान्यता दी है। कुछ विद्वान और रविदासिया धर्म के प्रर्वतकों ने रैदास की माता का नाम 'कलसी देवी' तथा पिता का नाम 'संतोख दास' दिया है। रैदास की एक बहिन के होने का उल्लेख संत कर्मदास ने 'रैदास महिमा' में किया है। जिसका नाम 'रविदासिनी' था। इसके अतिरिक्त इसका उल्लेख और कहीं नहीं मिलता।

रैदास की पत्नी का नाम 'लोना' था। रैदास संप्रदाय में भी यही नाम प्रचलित है और संबंधित साहित्य में भी यही मिलता है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि 'रविदास पुराण' के रचयिता परमानंद स्वामी ने लिखा है कि इनके एक पुत्र भी थे। जिनका नाम 'विजयदास' था। इसके अतिरिक्त इनके पुत्र होने का उल्लेख हमें और कहीं नहीं मिलता है।

विजयदास

रविदास जी की शिक्षा की बात करें तो उस समय जब कि 'स्त्री शुद्रों न धियताम' के सूत्र का बड़ी मुस्तैदी से पालन किया जाता था, ऐसी स्थिति में किसी

शुद्र की औपचारिक शिक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता, अत: अपने समकालीन और गुरुभाई कबीर की भाँति "कागद मसि छुऔ नहीं कलम गहौ नहिं हाथ"। जैसी स्थिति रैदास की भी थी। संत कर्मदास ने इस संबंध में ठीक ही लिखा है –

"पंडित गुनी कोई ढिग न बिठाये।
वेद शास्त्र किन्हुँ न पढ़ाये।।
अंतरमुखी जाउ कीन्हों ध्याना।
चारिउ जुगनि का पायो गियाना।।
कागद कलम मसि कछु नाही जाना।
सतगुरु दीन्हो पूरन गियाना।।"

अधिकांश संतों की भाँति रैदास भी बहुश्रुत व्यक्ति थे। उन्होंने अपना संपूर्ण ज्ञान सत्संग, भ्रमण और मनन द्वारा अर्जित किया था। जैसा कि डॉ. पद्म गुरुचरण सिंह ने भी लिखा है कि – "इन्हें आध्यात्मिक ज्ञान सत्संग और स्वाध्ययन और व्यक्तिगत अनुभव द्वारा प्राप्त हुआ था।" हमारा विचार है कि किसी भी युग की शिक्षा का, जो उद्देश्य है वह रैदास के जीवन में पूर्णरूपेण फलीभूत हुआ था। उन्होंने 'रहने और कहने की कला' को पूरी तरह से जान लिया था। लेकिन यह सत्य है कि पाठशाला न जा पाने की विवशता में ही उनकी वाणी से यह पद मुखरित हुआ होगा। कहते हैं कि 'हारे को हरिनाम' ही अंतिम शरण है –

"चलि मन हरि चटसाल पढ़ाऊँ।
गुरु की साटि ज्ञान का अक्षर,
बिसरत सहज समाधि लगाऊँ।।
प्रेम की पाटी, सुरति कर लेखनि,
दर्द-मझ लिखि आँक दिखाऊँ।।"

और उन्होंने 'प्रहलाद चरित' में तो स्पष्ट लिखा है कि मैने 'राम के नाम' के अतिरिक्त और कुछ नहीं पढ़ा है –

"हौ पढ़यौ राम को नाम, ऑन हिरदै नहिं आनौ।
अवर हुँ कछु न जानों, राम नाम हिरदै नहिं छाँड़ो।।"

इससे स्पष्ट है कि रैदास ने राम नाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं पढ़ा, तो भी उन्हें वेद, गीता, उपनिषद् आदि का अच्छा ज्ञान था। निष्कर्ष के रूप में चौधरी इंद्रराज सिंह के शब्द ही पर्याप्त है। वे लिखते हैं – "यह सत्य है कि तत्कालीन व्यवस्था के कारण और निम्न समझी जाने वाली चमार जाति का होने के कारण उन्हें किसी पाठशाला में बैठकर विधिवत् वेद, शास्त्रदि या गुरुमुख

से अध्ययन करने का सुयोग मिलना संभव नहीं था, परंतु उनकी वाणी के माध्यम से यह पता चलता है कि उन्हें वेद, उपनिषद्, गीता, भागवत, पुराण, आदि विषयों का सार और उनकी विचारधारा का पूर्ण ज्ञान था। यहाँ हम भूल जाते हैं कि वेद या ज्ञान सुनने और मनन करने से प्राप्त होता है। ऋषियों को यह उपलब्धि श्रवण और मनन इन्हीं दो श्रोतों के द्वारा हुई थी। इन संतों को भी ज्ञानोपलब्धि सत्संग के द्वारा हुई थी और वह लगभग मौलिक थी। रैदास ने कृत्रिम अध्ययन को छोड़कर प्रभु की पाठशाला में पढ़ने का प्रयास किया। पुस्तक ज्ञान का बोध न होने के कारण ही इन्हें आत्म-ज्ञान की पराकाष्ठा तक पहुँचने का अवसर मिला था।"

अब हम संत रविदास के सामाजिक चेतना या सामाजिक विचार की बात करें तो सामान्यत: रैदास का समय 15वीं शताब्दी अनुमानित किया जाता है। यह समय ऐसा था, जब भारत पर मुसलमानों के अत्याचारों, अनाचारों की आँधी जोरों पर थी। हिंदुओं की आँखों के सामने उनके देवालय घोषणाएँ करके गिराए जाते थे, उनके आराध्य देवताओं का अपमान किया जाता था। ऐसे समय में न तो वे विद्रोह ही कर सकते थे और न ही सिर झुकाये बिना जी ही सकते थे, अत: हृदय के आक्रोश को अपनी असहायता, निराशा और दीनता को प्रभु के सम्मुख कहकर मन को शांति देने के अतिरिक्त और रास्ता ही क्या था, तत्कालीन समाज की इस स्थिति को संत रैदास ने वाणी दी है -

"त्रहि-त्रहि त्रिभुवन पति पावन
अतिशय शूल सकल बलि जाऊँ।।"

मध्यकालीन भारत अंधविश्वासों के घनघोर अँधेरे में साँस ले रहा था, कुछ बेबुनियाद रूढ़ियों ने उसमें और सड़न पैदा कर दी थी। रैदास की ख्याति सर्वत्र फैल जाने के उपरांत भी सवर्ण हिंदू उन्हें अछूत ही समझते थे। दूसरा उल्लेख उनके काव्य में यूँ मिलता है -

"रैदास तूँ कॉवचि फली तूझे न छिवै कोय।"

इसके अतिरिक्त भी अपने हृदय के इस दर्द को उन्होंने अपनी वाणी में बड़ी सहजता से व्यक्त किया है-

"हम अपराधी नीच घर जन्में, कुटंब लोग हाँसी रे।।"

लोगों का यह उपहास ही व्यक्ति को अंतर्मुखी कर देता है और यह अपनी निराशा और उपेक्षा को सर्जनात्मक मोड़ देकर सामाजिक रूढ़ियों पर पुनर्चिंतन करता है, तब जाकर कहीं ये रूढ़ मान्यताएँ टूटती है। संत रैदास ने तत्कालीन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह किया, इसलिए उन्हें सामाजिक क्रांति का अग्रदूत कहने

में कोई अत्युक्ति नहीं है। संत कवि रैदास जी ने सर्वप्रथम हिंदू-मुस्लिम एकता स्थापित करने का प्रयास किया। उनका कहना था राम और रहीम को एक समझा जाये तथा वेद और कुरान को लोग बराबर सम्मान दें -

"कृष्णा-करीम, राम-हरि, राघव, जब लग एक न पेशा
वेद-कतेब-कुरान-पुरातन सहज एक नहीं वेशा।।"

इसी तरह रैदास जी ने मंदिर-मस्जिद के झगड़े को परम-पिता परमात्मा का धर्म स्थल बताकर हिंदू और मुसलमानों को आपस में न लड़ने की सलाह दी। उनका मत है -

"मंदिर-मस्जिद एक है, इन मॅह अनतर नाहिं।
रैदास राम रहमान का, झगड़ऊ कोउ नाहिं।।
रैदास हमारा राम जोई, सोई है रहमान।
काबा कासी जानि यहि, दोउ एक समान।।"

वर्ण-व्यवस्था जैसे अभिशाप को भी रैदास ने सैद्धांतिक स्तर पर विरोध किया और कहते हैं -

"रैदास एक ही बूँद सौं, सब ही भयों वित्थार।
मूरिख है जो करत हैं वरन अवरन विचार।।
श्रैदास' एक ही नूर ते जिमि उपज्यों संसार।
ऊँच-नीच किहि विध भये, ब्राह्मन और चमार।।"

इसके बाद उन्होंने स्पष्ट घोषणा कर दी कि कोई भी व्यक्ति जन्म के कारण ऊँच-नीच नहीं हो सकता, क्योंकि मनोवांछित जन्म लेना तो किसी के भी बस की बात नहीं। हाँ व्यक्ति के इहि-लौकिक कर्म अवश्य ही उसके श्रेष्ठत्व अथवा निकृष्टत्व को निर्धारित करते हैं -

"रैदास जन्म के कारणै, होत न कोई नीच।
नर को नीच करि डारि हैं, औछे करम की कीच।।"

भारत का दुर्भाग्य रहा है कि यहाँ पर जाति ही व्यक्ति का सामाजिक स्तर निर्धारित करती रही है। उसे ऊँच और नीच माने और मनवाने पर बाध्य करती रही है। संत रैदास इसलिए ऐसी जाति प्रथा को, जो व्यक्ति-व्यक्ति को जोड़ती नहीं तोड़ती हो को रोग मानते हैं -

"जात-पाँत के फेर मंहि, उरझि रहई सब लोग।
मानुषता को खात हइ, रैदास जात कर रोग।।"

संत रैदास ने तत्कालीन समाज में प्रचलित इन सड़ी-गली मान्यताओं का विरोध कर वेद विहित मान्यताओं का प्रचार किया -

"जन्म जात मत पूछिए, का जात और पाँत।
'रैदास' पूत सम प्रभ के कोई नहिं जात-कुजात।।"

इसका कारण उनकी दृष्टि में यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी को बनाने वाला वह एक ही 'सिरजनहार' है। उस एक ही बूँद का विस्तार यह सारा संसार है। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में उसी परमात्मा का अंश विद्यमान है, फिर किस आधार पर ब्राह्मण को श्रेष्ठ तथा शूद्र को निकृष्ट ठहराया जाए। उन्होंने जड़मति समाज को समझाया -

"एकै माटी के सभै भांडे, सभ का एकै सिरजनहार।
रैदास व्यापै एकौ घट भीतर, सभ को एकै घडै कुम्हार।।
रैदास एकै ब्रह्म का होई रहयों सगल पसार।
एकै माटी सब घट सजै, एकै सभ कूँ सरजनहार।।

इस प्रकार रैदास ने वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था का विरोध किया। वहीं पर उन्होंने इसकी नई व्याख्या भी प्रस्तुत की। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण ऊँचे कुल में जन्म लेने के कारण नहीं होता, बल्कि ब्राह्मण वह है जिसमें ब्रह्मात्मा विद्यमान हो -

"ऊँचे कुल के कारणै ब्राह्मन कोय न होय।
जउ जानहि ब्रह्म आत्मा, रैदास कहि ब्राह्मण सोय।।"
क्षत्रिय कौन? "दीन-दुखी के हेत जउ वारै अपने प्रान।
'रैदास' उह नर सूर कौ, साँचा छत्री जान।।
वैश्य कौन?
'रैदास' वैस सोई जानिये, जउ सतकार कमाय।
पून कमाई सदा लहै, लौटे सर्वत सुखाय।।
साँची हाटी बैठि करि, सौदा साँचा देई।
तकड़ी तौले साँच की, रैदास वैस है सोई।।"
शूद्र कौन?
'रैदास' जउ अति अपवित, सोई सूदर जान।
जउ कुकरमी असुधजन, तिन्ह ही सूदर मान।।

कहा जा सकता है कि छुआछूत एवं ऊँच-नीच को ही नहीं बल्कि गुरु जी ने मांसाहार, अनैतिकता, के अतिरिक्त धनलिप्सा, दुराचरण जैसे तत्त्वों को असामाजिक बतलाकर एक लंबी क्रांति का सूत्रपात किया। धार्मिक संकीर्णताओं, भेदभावों को भी उन्होंने सर्वथा त्याज्य बतलाया है। क्योंकि वह भेदभाव ही 'वसुधैव

कुटुंबकम्' का विरोधी है। इसी ने तो आदमी को आदमी से दूर किया है। मानवीयता के लोकोपकारी सिद्धांतों के प्रसार एवं प्रचारार्थ मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर आदि पूजा स्थानों तथा काबा, काशी, मक्का, मथुरा आदि तीर्थ स्थानों का भी विशेष महत्त्व नहीं है। क्योंकि प्रभु का वास वहाँ नहीं व्यक्ति के हृदय में है -

"का मथुरा का द्वारका, का कासी हरिद्वार।
'रैदास' खोजा दिल आपना, तउ मिलिया दिलदार।।"

समस्त मिथ्याचारों तथा आडंबरों का संत रैदास ने डटकर विरोध किया। उनकी मान्यता थी कि "मन चंगा तो कटौती में गंगा"। वस्तुतः मन की शुद्धता ही सर्वोपरि है उन्होंने समस्त बुराइयों पर एक-एक कर सशक्त चोट की। समाज सुधारक के नाते उन्होंने समाज की सही नब्ज को पकड़ा।

उपर्युक्त समस्त विवेचन के उपरांत निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि संत रैदास का जीवन और काव्य उदात मानवता के लिए आवश्यक सदाचारों के शाश्वत सैद्धांतिक मूल्यों का अक्षय भंडार है, जिसमें से प्रत्येक वर्ग और स्थिति तथा मानसिक स्तर पर व्यक्ति अपने लिए सुंदर-सुंदर मोतियों का चुनाव सुगमता से कर सकता है। उन्होंने हिंदू-मुसलमानों में भावात्मक एकता स्थापित करने के प्रयास किए। छुआछूत तथा वर्ण व्यवस्था का विरोध कर सामाजिक स्वास्थ्य के लिए अचूक औषधि तैयार की। 'जीवहत्या' को पाप घोषित कर मांसाहारी जैसी प्रवृत्ति को समाप्त करने का प्रयास किया तथा अहिंसा के वैदिक सिद्धांत का प्रचार किया। वहीं पर मानव मात्र को पूजा के साथ-साथ श्रम के प्रति आस्था का भी उपदेश दिया। इससे भी बड़ी बात, जो उस युग के और किसी संत कवि के काव्य में दिखाई नहीं देती वह है उनकी "स्वतंत्र चेतना"। उन्होंने तत्कालीन समाज में व्याप्त सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शोषण के खिलाफ आवाज उठाई थी। और एक ऐसे समाज की कल्पना की थी जिसमें ये सब विषमताएँ न हों। प्रत्येक व्यक्ति श्रम करके जीविकोपार्जन करे तथा हिंदू और मुसलमान सब मिलकर भारत की इस पवित्र भूमि पर रहे तथा दूसरे सर्वांगीण विकास के लिए कार्य करें। इन संपूर्ण तथ्यों पर गंभीरता से विचार करने के उपरांत हम कह सकते हैं कि संत रैदास के काव्य का वैचारिक आधार बहुत दृढ़ तथा उसकी भावात्मक पृष्ठभूमि बहुत ही विस्तृत तथा सामाजिक महत्त्व की है जिसकी प्रासंगिकता सम-सामयिक संदर्भों में भी असंदिग्ध है।

❐❐❐